ॐ

परमात्मने नमः

धर्म की क्रिया

गुजराती लेखक :

रामजी माणेकचन्द दोशी, एडवोकेट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

: हिन्दी अनुवाद :

मगनलाल जैन

ललितपुर

सम्पादन :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियां, जिला–भीलवाड़ा (राजस्थान)

: प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.

वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056

फोन : (022) 26130820

प्रथम संस्करण :

न्यौछावर राशि :

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250, फोन : 02846-244334
2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
   मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820
   Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.)
   फोन : 09997996346, 2410010/11
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
   ए-4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
   योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां,
   निर्मला कोन्वेन्ट रोड राजकोट-360007
   फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक :

निवेदन

इस 'धर्म की क्रिया' में सर्वज्ञ वीतराग कथित यथार्थ तत्त्वज्ञान का संग्रह है जो २५ साल पूर्व गुजराती भाषा में श्री रामजीभाई ने तैयार किया था। हिन्दी भाषा में इसकी तृतीयावृत्ति विशेष प्रसन्नता का विषय है। धर्म के नाम पर अन्यथा उपदेश देनेवाले तथा शास्त्रों का विपरीत अर्थ करनेवाले वर्तमान में सुलभ हैं किन्तु पर से पृथक्त्व और स्व से एकत्व की सत्कथा दुर्लभ है। सत्पुरुश श्री कानजीस्वामी द्वारा आगमानुसार तत्त्वज्ञान का प्रकाश हो रहा है। श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के स्वरूप का पक्का ज्ञान होना अति आवश्यक है। सच्ची धर्म की क्रिया क्या है ? वह किसके होती है ? मोक्षमार्ग में कौन सी क्रिया कार्यकारी है ? आदि अनेक विषयों का संग्रह श्री रामजीभाई एडवोकेट (भूतपूर्व अध्यक्ष दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़) ने बड़े ही सुन्दर ढंग से किया है।

आप करीब ३६ साल से पूज्य स्वामीजी की संगति में हैं, उम्र ९५ साल की होने पर भी आत्महित में सतत सावधान हैं, नित्य सर्व धार्मिक कार्यक्रम में आपकी उपस्थिति रहती है। उदयपुर मुमुक्षु-मण्डल द्वारा इस ग्रन्थ की प्रथमावृत्ति प्रकाशित हुई थी, लेकिन माँग होने से इसकी द्वितीयावृत्ति प्रकाशित की गयी और अब तृतीयावृत्ति आपके हाथों में है।

ब्रह्मचारी चन्दुलालजी ने इसका अनुवाद पढ़ने के लिए अपना अमूल्य समय दिया, ब्रह्मचारी गुलाबचन्दजी ने पुस्तक का सुन्दर ढंग से सम्पादन कर दिया है, श्री मगनलालजी जैन ने शुद्ध अनुवाद कर दिया है, तथा अंकित प्रिंटिंग प्रेम शाहदरा, दिल्ली ने यह संस्करण सुन्दर ढंग से छाप दिया है। अत: उन सबका यह संस्था आभार मानती है।

स्वाध्याय-प्रेमियों से प्रार्थना है कि मध्यस्थ होकर, सर्वज्ञ कथित निर्मल श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रमय सत्क्रिया को समझकर स्व-सन्मुखता द्वारा अपने समय, शक्ति और उत्साह को सार्थक बनावें।

निवेदक :

अक्टूबर १९७८

साहित्य प्रकाशन समिति
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

समर्पण

पूज्य श्री कानजीस्वामी की पवित्र सेवा में

आपने इस पामर पर परम उपकार किया है। आप वीतरागधर्म की महा प्रभावना कर रहे हैं। अनन्त वीतरागियों के द्वारा प्रतिपादित मोक्षमार्ग क्या है? और उसे प्राप्त करने की वास्तविक क्रिया क्या है? यह आप इस भारतवर्ष में अपनी श्रुतगंगा के महाप्रवाह के द्वारा मुमुक्षु जीवों को प्रत्यक्ष समझा रहे हैं। भगवान के द्वारा कही गयी क्रिया को आप स्थापित कर रहे हैं। आप के पवित्र उपदेश को सुनकर अनेक जीव पावन हुए हैं और हो रहे हैं। इसलिए 'मोक्ष की क्रिया' की यह लघु पुस्तक अत्यन्त भक्तिभाव से आपको समर्पित करके आप के पवित्र कर कमलों में उपस्थित कर रहा हूँ।

आपका दासानुदास

रामजी

प्रस्तावना

१– इस ग्रन्थ को तैयार करने का हेतु बताने से पूर्व जैन समाज की परिस्थिति जानना आवश्यक है, इसलिए सर्व प्रथम वह यहाँ कही जाती है।

संवत् १९५२-५४ की परिस्थिति

२– श्रीमान् समीप समयवर्ती समयज्ञ श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि—बहुत समय से जैनों में ऐसे अरक्षित कुएँ की तरह आवरण (काई) आ गया है जिसके पानी का कभी उपयोग नहीं होता। कोई ज्ञानी पुरुष है नहीं। कितने ही समय से कोई ज्ञानी हुआ नहीं है, अन्यथा उसमें इतने अधिक कदाग्रह नहीं हो जाते। *(श्रीमद् राजचन्द्र, पृष्ठ ५२९)*

(१) आश्चर्यकारक भेद हो गये हैं (२) खण्डित हैं (३) सम्पूर्ण करनेयोग्य कार्य दुर्गम्य मालूम होता है। (४) उस प्रभाव में महत अन्तराय है (५) देश कालादिक अति प्रतिकूल है (६) वीतरागों का मत लोक के प्रतिकूल हो गया है (७) जो लोग रूढ़ि से उसे मानते हैं, उनके लक्ष्य में भी वह प्रतीत नहीं मालूम होता। अथवा वे अन्यमत को वीतराग का मत समझकर प्रवृत्ति किये जा रहे हैं (८) यथार्थ वीतराग के मत को समझने की योग्यता की उनमें बहुत बड़ी कमी है (९) दृष्टि राग का प्रबल राज्य वर्तमान है (१०) वेष आदिक व्यवहार में घोर विडम्बना करके मोक्षमार्ग में अन्तराय कर बैठे हैं (११) तुच्छ पामर पुरुष विराधक वृत्ति धारण करके सबसे अग्रभाग में वर्तमान हैं (१२) किंचित् सत्य के प्रगट होने पर ऐसा मालूम होता है जैसे उन्हें प्राणघातक दुःख हो रहा हो।

(देखिये श्रीमद् राजचन्द्र, पृष्ठ ७०२)

३– श्री आत्मसिद्धि शास्त्र में उनने कहा है कि—

वर्तमान इस काल में मोक्षमार्ग बहु लोप।
आत्मार्थी के मनन को कहते यहां अगोप॥

४– इससे सिद्ध होता है कि (१) इस समय मोक्षमार्ग के जाननेवालों का बहुलोप हो गया है (२) जो लोग रूढ़ि से उसे मानते थे, उन्हें वीतराग धर्म की प्रतीति नहीं थी (३) वे अन्यमत को वीतराग का मत समझ कर प्रवृत्ति करते थे।

तब से लेकर अबतक की परिस्थिति

५– इस देश में उसके बाद अंग्रेजी शिक्षा का बहुत प्रचार हुआ और जीवन निर्वाह के साधन बहुत तंग हो गये। उन्हें प्राप्त करने के लिए लोग अपना बहुभाग उसी में लगाने लगे; इसलिए वीतरागी तत्त्वज्ञान से समाज का लक्ष्य विशेष दूर होने लगा और प्रवर्तमान धर्म की रूढ़ियों के प्रति शिक्षित लोगों के बहुभाग को अरुचि होने लगी।

६– जैनधर्म कोई गुट्ट नहीं है, फिर भी उसके अनुयायियों ने धर्म के नाम पर गुट्ट बना रखे हैं और उनके समर्थन के लिए सम्प्रदायों की परिषदें होने लगी हैं। उन परिषदों–सभाओं ने अपना लक्ष्य मुख्यतया (धार्मिक बनाने के बदले) समाज सुधार पर रखा है। लौकिक शिक्षा के लिए भी प्रचार और फण्ड किये गये किन्तु यह जानने की कभी किसी ने चिन्ता नहीं की कि उस शिक्षा में वीतरागी विज्ञान विरुद्ध कितना क्या सिखाया जाता है ? परिणामस्वरूप धर्म पर से बाह्य श्रद्धा भी लगभग नष्ट हो गयी। उन परिषद–सभा संचालकों का श्रीमद् राजचन्द्र के निम्न लिखित अमूल्य कथन पर भी लक्ष्य नहीं रहा।

गच्छ मत की कल्पना है नहीं सद्व्यवहार।
भान नहिं निज रूप का निश्चय नहीं वह सार॥१३३॥

७– शिक्षा प्रचार प्रस्तावों पर ठीक अमल नहीं होता, इसलिए फरियाद बनी रही और समाज सुधार के अन्य प्रस्ताव मात्र कागज पर रह गये।

८– संवत् १९७४ में जब इस देश में इन्फ्ल्यूएंजा बुखार की महा बीमारी हुई थी, तब समाज सेवा मण्डल प्रारम्भ हुए थे और सेवा की ओर समाज की प्रवृत्ति हुई थी। संवत् १९८७ से राष्ट्रीय आन्दोलन ने समाज के

हृदय में प्रवेश किया, तब से युवक वर्ग राष्ट्रसेवा, देशसेवा, समाजसेवा की ओर लग गया और वे लोग लौकिक कार्यों को धर्म के नाम से सम्बोधित करने लगे, वे उसे राष्ट्रधर्म, देशधर्म, समाजधर्म इत्यादि नाम देने लगे।

९– यह स्पष्ट है कि ऐसे आन्दोलनों का प्रभाव उन पर हुए बिना नहीं रह सकता जो कुलधर्म से जैन हैं। जैनों को जब यह भासित हुआ कि उस आन्दोलन में अहिंसा को स्थान दिया गया है तो जैन समाज उस ओर प्रेरित हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि जैन समाज का कुछ भाग 'राष्ट्रधर्म' को ही वीतरागधर्म अथवा उसका एक भाग समझने लगा और अन्ततोगत्वा समाज वीतराग–विज्ञान से विशेष दूर हो गया।

१०– इस आन्दोलन को लेकर जैन युवक संघ स्थापित हुए। जिनका मुख्य कार्यक्रम समाज सुधार और समाज सेवा रहा है। इस प्रवृत्ति को धर्म का नाम देकर समर्थन करने के लिए पुस्तकें और अखबार प्रगट हुए। उनमें तीर्थंकर भगवान के चरित्रों में से उनके कार्यक्रम को समर्थन मिलता है और वही सच्चा जैनधर्म है, इस आशय के लेख आने लगे।

११– समाज मुख्यतया तत्त्वज्ञान से रहित था और उसे प्रिय लगनेवाले कार्य जैनधर्म के अनुकूल हैं, ऐसे लेख पढ़ने को मिले तथा स्वयं जैनधर्म के सच्चे अनुयायी हैं; इस प्रकार की भ्रमरूप धारणा उनमें जम गयी और वह दृढ़ हो गयी। जब उनकी परीक्षा ली जाती है और उनसे छह द्रव्य, पंचास्तिकाय और नौ तत्त्वों के नाम तथा सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, तप, क्रिया इत्यादि का वास्तविक अर्थ पूछा जाता है तो उनके उत्तर में परिणाम केवल शून्य ही आता है। इस प्रकार जहाँ तत्त्वज्ञान की अज्ञानदशा होय, वहाँ निश्चयनय और व्यवहारनय का वास्तविक अर्थ की खबर कहाँ से हो सकती है, यह सहज की कल्पना की जा सकती है।

एक विचित्रता

१२– संसार सम्बन्धी व्यवसायों में से जिसने जिस व्यवसाय का

पक्का अभ्यास किया हो, वही तत्सम्बन्धी लेख अखबारों में लिखता है। आयुर्वेद पर कोई वकील लेख नहीं लिखता, किन्तु लोगों ने धर्म का क्षेत्र ऐसा मान रखा है कि तत्त्वज्ञान से वंचित होने पर भी चाहे जो व्यक्ति धर्म –विषय पर लेख लिख सकता है। और यदि वह लेखक समाज में कुछ प्रतिष्ठित हुआ तो उसका कथन आधारभूत माना जाता है और फिर यह भी माना जाता है कि ऐसी चर्चा से सत्य की शोध हो सकती है। यदि यह मान्यता सच हो तो इसका अर्थ यह हुआ कि धर्म सम्बन्धी लेखों के लिए उस विषय के विशेष ज्ञान की आवश्यकता नहीं है और धर्म तो मानों बिल्कुल मुफ्त ही है।

१३– यह तो हुई गृहस्थ समाज की दशा। अब त्यागी समाज की स्थिति को भी देखिये। कुछ सम्प्रदायों में त्यागियों की संख्या बढ़ाने की ओर विशेष ध्यान दिया जाने से शिकायतें होने लगी। युवक समाज और त्यागी समाज तथा उसका समर्थन करनेवाले गृहस्थ समाज के बीच संघर्ष होने लगा। त्यागियों के बीच बाह्याचरण को लेकर तीव्र क्लेशरूप मतभेद होने लगा। अखबारों में उस सम्बन्ध में बड़े ही जोर–शोर की चर्चा होने लगी और परस्पर आक्षेप किये जाने लगे। परिणामस्वरूप साधु समाज की संख्या में वृद्धि भले ही हुई हो किन्तु फिर भी अनेक कारणों से वह समाज तत्त्वज्ञान से मुख्यतया वंचित रहा है। कुछ त्यागी समाज के अनुकूल विषयों को धर्म का स्वरूप मनवाते हैं और कुछ उपदेशक कहते हैं कि यह काल धर्म प्राप्त करने के लिए योग्य नहीं है फिर भी वे साधुओं की संख्या को बढ़ाते ही जाते हैं।

१४– इस प्रकार श्रीमद् राजचन्द्रजी द्वारा कहे गये १२ मुद्दों में से ६–७–११–१२ नम्बर के मुद्दे विशेषतया पुष्ट हुए हैं। इसे तटस्थ विचारक अवश्य स्वीकार करेगा।

तत्त्वज्ञानरसिक जन

१५– उपरोक्त कथन का यह अर्थ नहीं है कि तत्त्वज्ञानरसिक जन कोई हैं ही नहीं। वीतराग का शासन पंचम काल के अन्त तक रहेगा।

पंचम काल २१००० वर्ष का है, उसमें से अभी २५०० ही वर्ष पूरे हुए हैं। इसलिए वीतरागी धर्म को समझने की रुचिवाले जीव होना ही चाहिए; अतः इस सम्बन्ध में क्या क्या हुआ है, इसे अब हम देखें।

१६- श्रीमद् राजचन्द्र ने गुजरात काठियावाड़ में जन समाज को अध्यात्म समझाया और अध्यात्म के प्रचारार्थ 'श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल' की स्थापना की। इस प्रकार जन समाज पर (मुख्यतया गुजरात और काठियावाड़ पर) उनका महान उपकार प्रवर्तमान है।

१७- श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल की ओर से श्री कुन्दकुन्द आचार्य के बनाये हुए परमागम श्री समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, श्री योगीन्द्रदेव कृत श्री परमात्मप्रकाश, श्री उमास्वामी कृत तत्त्वार्थसूत्र, श्री अमृतचन्द्र आचार्य कृत पुरुषार्थसिद्धि उपाय, श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती कृत द्रव्यसंग्रह, गोमट्टसार इत्यादि ग्रन्थ हिन्दी भाषा में प्रगट किये और श्रीमद् राजचन्द्र गुजराती और हिन्दी में प्रगट किया।

१८- कलकत्ता और दूसरे स्थानों से अर्थ-प्रकाशिका, समाधि शतक, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, रत्नकरण्ड श्रावकाचार, नियमसार और अष्टपाहुड़, समयसार नाटक, मोक्षमार्गप्रकाशक, जैनसिद्धान्त प्रवेशिका, जैनसिद्धान्त दर्पण आदि अनेक तत्त्व के ग्रन्थ हिन्दी भाषा में प्रगट हुए हैं।

१९- गुजरात काठियावाड़ के जैनधर्म के भिन्न-भिन्न फिरकों के संघों ने इन ग्रन्थों को अपनी लाइब्रेरी के लिए खरीदे तथा गुजरात काठियावाड़ के अनेक जैनों ने भी उन्हें खरीदा। लोगों के हाथ में यह साहित्य आने पर कुछ लोगों ने उसे पढ़ा, जिससे उनके मन में तात्त्विक प्रश्न उठने लगे और तटस्थ वृत्ति के लोग उसमें विशेष रस लेने लगे। इस प्रकार गुजरात काठियावाड़ में अध्यात्म रस के जो बीज श्रीमद् राजचन्द्र ने बोये थे, वे उगते हुए दिखायी देने लगे।

एक पवित्र प्रसंग

२०- संवत् १९७२ में श्री वीरशासन के विशेष प्रचार का एक पवित्र प्रसंग अनेक मुमुक्षुओं के महान् पुण्योदय से बना। किसी धन्य घड़ी में

पूज्य श्री कानजीस्वामी के हस्त कमल में श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य कृत श्री समयसार नामक महान ग्रन्थ आया। समयसार को पढ़ते ही उनके हर्ष का पार न रहा। वे जिस की शोध में थे, वह उन्हें मिल गया। (उनने श्वेताम्बर आगमों और उनकी टीकाओं तथा अन्य ग्रन्थों का अभ्यास पहले किया था)। पूज्य श्री कानजीस्वामी ने अपने आन्तरिक नयनों से समयसारजी में अमृत के छलकते हुए सरोवर देखे। एक के बाद दूसरी गाथा-टीका को पढ़ते हुए मानों अंजलि भर भरकर अमृत घूँट पिये। ग्रन्थाधिराज श्री समयसारजी ने महाराज पर अनुपम अलौकिक उपकार किया और उनके आनन्द का पार न रहा। भूली हुई परिणति ने निज घर को देखा। उपयोगरूपी झरने का प्रवाह अमृतमय हो गया। जिनेश्वरदेव के सुनन्दन गुरुवर्य की ज्ञान कला अब अपूर्व रीत्या खिलने लगी।

अध्यात्म ज्ञान की प्रभावना

२१- परम पूज्य श्री कानजीस्वामी का चातुर्मास संवत् १९९० में राजकोट में हुआ। उस समय उनने श्री समयसारजी की प्रारम्भ से ९९ गाथाओं तक का अर्थ अपनी मधुर और आबालवृद्ध के समझनेयोग्य सरल भाषा में समझाया। उसके अतिगहन आशयों को प्रगट किया, तब से समाज की अध्यात्म वृत्ति जागृत होने लगी।

२२- संवत् १९९० का चातुर्मास पूर्ण होने पर महाराज श्री जामनगर पधारे। वहाँ पर श्री समयसार का प्रवचन चालू रहा। इस प्रकार काठियावाड़ में अध्यात्म का प्रचार बढ़ता गया। जैनधर्म के तत्त्व के सम्बन्ध में उनकी मान्यता बदल चुकी थी; इसलिए उनने संवत् १९९१ की चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के पवित्र दिन को सोनगढ़ में स्थानकवासी सम्प्रदाय का त्याग किया। उनका मुख्य निवास सोनगढ़ में ही है। संवत् १९९५ में १० मास तक और संवत् १९९९ में लगभग ९ मास तक महाराज श्री राजकोट में रहे थे। वह समय तथा विहार का समय छोड़कर शेष समय वे सोनगढ़ में ही रहकर अन्तिम ११ वर्ष से काठियावाड़ में वीतराग के तत्त्वज्ञान की मूसलधार अमृतवर्षा कर रहे हैं जिसका लाभ अनेक मुमुक्षुजन ले रहे हैं।

इस ग्रन्थ की तैयारी

२३- बहुत से मुमुक्षु जीव, आध्यात्मिक ज्ञान में रस लेने लगे। इसलिए धर्म की वास्तविक क्रिया क्या है, यह जानने के लिए उनकी आकांक्षा बढ़ने लगी। कई उपदेशक यह समझाया करते थे कि शरीर-जड़ की क्रिया से धर्म होता है। लोग जो सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान तप, उपवास, दान, भक्ति, देवदर्शन, पूजा इत्यादि करते हैं, वही भगवान के द्वारा कही गयी क्रिया है और उसे करते-करते धीरे-धीरे धर्म होगा यों समझा रहे थे। साम्प्रदायिक मनोवृत्तिवाले जीवों की यह आदत होती है कि कुलधर्म के गुरु जो कुछ कहते हैं, उसे वे ननु नच किये बिना मान लेते हैं, इसलिए वे ऐसी भ्रम पूर्ण मान्यता को पुष्ट किया करते हैं कि इस क्रिया से अपना उद्धार हो जाएगा।

२४- कई उपदेशक तो यह कहते हैं कि हम वर्तमान में चलनेवाली क्रिया के महा उपासक हैं, हम उसके उपदेशक हैं, इस काल में लोग धर्म को नहीं समझ सकते, इसलिए वे जिस प्रकार कियाऐं करते रहते हैं, उसी प्रकार उन्हें करते रहना चाहिए। इस प्रकार वे मूढ़ता को पुष्ट करते हैं। यदि इस काल में जीव धर्म को नहीं पाल सकते तो वे सच्चे उपदेशक कैसे माने जाएँगे। यदि यह काल धर्म के योग्य नहीं है तो प्रतिदिन साधुओं की संख्या बढ़ाने से क्या लाभ है ? यदि इस काल में जीव धर्म को नहीं पा सकते तो वे सच्ची साधु दीक्षा कैसे लेंगे और सच्चे साधु कैसे होंगे ?

२५- ऐसी परिस्थिति में कई मुमुक्षु भाई कहने लगे कि वीतराग देव के द्वारा प्ररूपित क्रिया कौन सी है ? इसके सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखी जाए तो अच्छा हो। उनकी यह भावना उचित प्रतीत होने से पूज्य श्री कानजीस्वामी के मुख कमल से निकलनेवाली वाणी से इस सम्बन्ध में मैं जो कुछ भी ग्रहण कर सका, उसे मैंने इस ग्रन्थ में लिखा है। इसमें वीतराग विज्ञानता के अनुसार कथन करने की पूरी सावधानी रखी गयी है।

२६- इस ग्रन्थ में निम्न विषय लिए गये हैं—(१) ज्ञान क्रियाभ्याम्

मोक्ष: (२) ज्ञप्तिक्रिया (३) करोति क्रिया (४) मोक्ष को काटनेवाली क्रिया (५) कुसामायिक क्रिया-सुसामायिक क्रिया (६) कुप्रतिक्रमण-सुप्रतिक्रमण (७) सच्चा प्रत्याख्यान (८) सच्चा तप (९) सच्ची गुप्ति-समिति (१०) धर्म अनुप्रेक्षा और परीषहजय का स्वरूप (११) भक्ति (१२) प्रशस्त दान, शील, तप भाव (१३) देह दमन, इन्द्रिय निग्रह का सच्चा अर्थ (१४) मोक्षमार्ग में ज्ञान और क्रिया का कितने कितने दोकड़ें (१५) जीव प्रथम क्या करे (१६) निमित्त परद्रव्य का कुछ नहीं कर सकता (१७) निश्चय-व्यवहार का स्वरूप (१८) जीव की अनादि से चली आई भूल (१९) जीव के अनादि के सात व्यसन इत्यादि विषय लिये गये हैं।

पाठकों से प्रार्थना

२७- निम्नलिखित विषयों पर विशेष लक्ष्य रखने की प्रार्थना है—

(१) सम्यग्दर्शन से ही धर्म का प्रारम्भ होता है।

(२) सम्यग्दर्शन को प्राप्त किये बिना किसी भी जीव को सच्चे व्रत, सामायिक, प्रतिक्रमण, तप, प्रत्याख्यान इत्यादि नहीं हो सकते। क्योंकि वह क्रिया पहले पाँच में गुणस्थान में शुभभावरूप होती है।

(३) शुभभाव ज्ञानी और अज्ञानी दोनों के होते हैं किन्तु अज्ञानी यह मानता है कि उससे धर्म होगा; और ज्ञानी (हेयबुद्धि होने से) यह मानता है कि उससे कदापि धर्म नहीं होगा।

(४) इससे यह नहीं समझना चाहिए कि यहाँ पर शुभभाव करने का निषेध किया गया है किन्तु यह बताया गया है कि उसे न तो धर्म मानना चाहिए और न यह मानना चाहिए कि उससे क्रमश: धर्म होगा, क्योंकि अनन्त वीतरागों ने उसे बन्ध का कारण कहा है।

(५) एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता। परिणमन नहीं करा सकता, प्रेरणा नहीं कर सकता, असर, मदद या उपकार नहीं कर सकता, हानि-लाभ नहीं कर सकता, मार या जिला नहीं सकता, सुख-

दु:ख नहीं दे सकता। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता अनन्त ज्ञानियों ने पुकार-पुकार कर कही है।

(६) जिनमत में ऐसी परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व हो, उसके बाद व्रत हो। सम्यक्त्व स्व-पर का श्रद्धान होने पर होता है और वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने पर होता है। इसलिए पहले द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि होना चाहिए।

(७) पहले गुणस्थान में जिज्ञासु जीवों के शास्त्राभ्यास, पठन, मनन, ज्ञानी पुरुषों का धर्मोपदेश सुनना, निरन्तर उनके समागम में रहना, देवदर्शन, पूजा, भक्ति, दान इत्यादि शुभभाव होते हैं किन्तु पहले गुणगान में सच्चे व्रत, तप इत्यादि नहीं होते।

२८- ऊपरी दृष्टि से देखनेवाले के निम्न लिखित दो शंकाओं का होना सम्भव है—

(१) इस प्रकार का कथन सुनने अथवा पढ़ने से लोगों को बहुत हानि होने की सम्भावना है।

(२) वर्तमान में लोग जो कुछ भी व्रत, प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमणादि क्रिया करते हैं, वह छोड़ देना चाहिए।

उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है:—

यह कहना बहुत बड़ी भूल है कि सत्य से किसी भी जीव को हानि हो सकती है। वह तो ऐसी ही बात होगी जैसे यह कहा जाय कि असत् कथन से लोगों को लाभ होता है। सत् के सुनने या पढ़ने से जीवों को कदापि हानि नहीं हो सकती। मात्र यह जानना आवश्यक है कि व्रत, प्रत्याख्यान करनेवाले ज्ञानी हैं या अज्ञानी? यदि वे अज्ञानी हैं तो उनके सच्चे व्रतादि हो ही नहीं सकते, इसलिए उन्हें छोड़ने का प्रश्न ही नहीं है। यदि व्रत करनेवाला ज्ञानी होगा तो यह मानना न्याय विरुद्ध है कि वह छद्मस्थदशा में व्रतों को छोड़कर अशुभ में चला जाएगा। हाँ, यह हो सकता है कि वह क्रमश: शुभभाव को दूर करके शुद्ध को बढ़ावे। किन्तु वह तो

लाभ का कारण है, हानि का नहीं; इसलिए सत्य कथन से किसी को हानि नहीं हो सकती।

२९- इस प्रकार जीवों को सत्य का स्वरूप और मोक्ष प्राप्ति करने की वास्तविक क्रिया का स्वरूप बतानेवाला यह ग्रन्थ सबके लिए हित का ही कारण है।

३०- बहुत से जीव धर्म करना चाहते हैं और उसके लिए क्रिया करना चाहते हैं किन्तु उन्हें यह यथार्थ प्रतीत नहीं होती कि किस क्रिया के करने से धर्म होगा। इसलिए वे धर्म के नाम पर अधर्म का सेवन करते रहते हैं। इसलिए इस पुस्तक में बताया गया है कि धर्म की क्रिया क्या है ? और उसका वास्तविक स्वरूप क्या है ? अत: उसका सावधानीपूर्वक अभ्यास करने के लिये जिज्ञासु जीवों से खास निवेदन है।

अनुक्रमणिका

प्रकरण	विषय	पृष्ठ
१	ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः	१
२	ज्ञप्तिक्रिया	११
३	करोतिक्रिया	१८
४	मोक्ष को कतरनेवाली क्रिया कौन सी है ?	३४
५	सामायिक का स्वरूप समझे बिना की हुई सामायिक क्रिया का फल	३८
६	सच्ची सामायिक क्रिया का स्वरूप	४०
७	कुप्रतिक्रमण और सुप्रतिक्रमण का स्वरूप	४४
८	सच्चा प्रत्याख्यान क्या है ?	४६
९	सच्चा (सम्यक्-सत्) तप क्या है ?	५०
१०	सच्ची (सम्यक्) गुप्ति-समिति क्या है ?	५३
११	धर्म, अनुप्रेक्षा और परिषहजय का स्वरूप क्या है ?	५४
१२	भक्ति का स्वरूप	५६
१३	प्रशस्तराग - दान, शील, तप, भाव	५८
१४	देह-दमन-इन्द्रिय निग्रह और शारीरिक क्रिया का स्वरूप	६२
१५	मोक्षमार्ग में ज्ञान कितने प्रतिशत और क्रिया कितने प्रतिशत	६६
१६	जीव को प्रथम क्या करना चाहिए ?	६८
१७	निमित्त परद्रव्य का क्या कर सकता है ? (१)	७३
१८	निश्चय-व्यवहार के प्रश्न और उनके अर्थ	९१
१९	जीव की अनादि से चली आ रही भूलें	९६
२०	जीव के अनादि के सात व्यसन	९८
२१	सत्य पुरुषार्थ	१००
२२	सम्यक् तप का स्वरूप (१)	१०३
२३	दया, दानादि का वास्तविक स्वरूप	११७
२४	त्रास का साम्राज्य और उसे दूर करने का उपाय - सम्यग्ज्ञान	१३१

२५	विश्व-प्रेम	१४१
२६	पाप दूर करने का सच्चा उपाय क्या है? (१)	१४६
२७	पाप दूर करने का सच्चा उपाय क्या है? (२)	१५८
२८	सच्चा 'मिच्छामि दुक्कडं' कब होता है?	१६५
२९	सच्चा प्रतिक्रमण	१६९
३०	व्यवहार	१७७
३१	प्रश्न और उत्तर	१८१
३२	धर्म की क्रिया प्रगट करने के लिए सम्यग्दर्शन की भावना करे!	१८५
३३	अधर्म की क्रिया को दूर करने के लिए मिथ्यात्व का वमन करो!	१८९
३४	क्रिया : स्वरूप एवं प्रकार	१९४
३५	तत्त्व-चर्चा	२०२

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

धर्म की क्रिया

प्रकरण : १

ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः (१)

१—प्रकरण के प्रारम्भ में दिया हुआ सूत्र '**ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः**' बिल्कुल छोटा-सा है, परन्तु उसका अर्थ सामान्य मनुष्य, जो कि अपने को धर्मी होना मानते हैं, वे अधिकांश नहीं समझते, इसलिए यहाँ लिखा जाता है।

२—क्रिया शब्द का अर्थ निम्नानुसार है:—

(अ) आत्मा या पुद्गल का एक आकाश प्रदेश से दूसरे आकाश प्रदेश में गमन, वह क्रिया है। यह व्याख्या श्री राजवार्तिक में निम्नानुसार है:—

उत्भयनिमित्तापेक्षः पर्यायविशेषो
द्रव्यस्य देशांतर-प्राप्तिहेतुः क्रिया ॥१ ॥

अर्थः—उभयनिमित्त अर्थात् आभ्यन्तर और बाह्य कारणों के द्वारा द्रव्य को एक देश से अन्य देश की जो प्राप्ति होती है—ऐसी विशेष पर्याय (अवस्था) का नाम क्रिया है। (**देखो, राजवार्तिक, अध्याय ५, सूत्र ७, पृष्ठ १९९**) [इस क्रिया का मोक्ष के साथ सम्बन्ध नहीं है।]

(ब) क्रिया का दूसरा अर्थ परिणति है; श्री समयसार में कलश

५१ में क्रिया का अर्थ निम्न प्रकार दिया है:—

यः परिणमति स कर्ता य परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया॥५१॥

अर्थः—जो परिणमित होता है, वह कर्ता है; (परिणमित होनेवाले का) जो परिणाम है, वह कर्म है और जो परिणति है, वह क्रिया है, यह तीनों वस्तुरूप से भिन्न नहीं हैं॥५१॥

(देखो, हिन्दी समयसार, पृष्ठ १४३, गाथा ८६)

(क) आत्मा के तथाविध परिणाम हैं, वह जीवमयी क्रिया है, क्योंकि सर्व द्रव्यों के परिणामलक्षण, सो क्रिया है; आत्मा के परिणाम, आत्मा की क्रिया होने से वह जीवमयी क्रिया कही जाती है। जिस द्रव्य की जिस परिणामरूप क्रिया है, उससे वह द्रव्य तन्मय है; इस कारण जीव भी तन्मय होने से वह जीवमयी क्रिया उस जीव की (आत्मा की) क्रिया है। *[देखो, श्री प्रवचनसार, पृष्ठ १७१-१७२, संस्कृत तथा हिन्दी टीका]* आत्मा और जीव इनका एक ही अर्थ में उपयोग होता है, इससे पर्यायवाची शब्द हैं।

श्रीमद् राजचन्द्रजी भी उसी प्रकार निम्न शब्दों में कहते हैं—'सर्व पदार्थ अर्थक्रिया सम्पन्न हैं, कुछ न कुछ परिणामक्रिया सहित ही सर्व पदार्थ दिखायी देते हैं; आत्मा भी क्रिया सम्पन्न है।'

(देखो, श्री सर्वसामान्य प्रतिक्रमण आवश्यक, पृष्ठ १)

३—क्रिया शब्द के ऊपर कहे अर्थ से निम्न प्रकार सिद्धान्त फलित होते हैं।

(१) प्रत्येक द्रव्य का परिणाम, वह क्रिया होने से, और छह प्रकार के होने से निम्न छह क्रियाएँ हुईं।

अ—जीव की क्रिया, वह चैतन्यक्रिया (शुद्ध, शुभ, अशुभ)।

ब—पुद्गल की क्रिया अर्थात् एक पुद्गल से लेकर अनन्तानन्त

पुद्गलों की होनेवाली क्रिया, वह पौद्गलिक क्रिया। शरीर पुद्गल होने से, उसकी जो क्रिया है, वह जड़क्रिया है।

क—धर्मास्तिकाय का परिणमन, वह धर्मास्तिकाय की क्रिया।

ख—अधर्मास्तिकाय का परिणमन, वह अधर्मास्तिकाय की क्रिया।

ग—आकाश का परिणमन, वह आकाश की क्रिया।

च—कालद्रव्य का परिणमन, वह काल की क्रिया।

(२) जीव और पुद्गल का आकाश के एक क्षेत्र में से अन्य क्षेत्र में गमन, वह गमनक्रिया।

(ऊपर ब, क, ख, ग, च और पैरा (२) में बतलायी हुई क्रियाएँ मोक्ष की क्रिया नहीं हैं। अ सम्बन्धी स्पष्टीकरण पैरा ४)

४—मोक्ष जीव का होता है, इसलिए जीव की क्रिया द्वारा मोक्ष होता है। जीव की क्रिया शुद्ध और अशुद्ध—ऐसे दो प्रकार की है; उसमें से जीव की शुद्ध क्रिया द्वारा मोक्ष होता है और अशुद्ध क्रिया द्वारा संसार होता है; इसलिए यहाँ जीव की शुद्ध क्रिया, ऐसा अर्थ लेना चाहिए।

५—ज्ञान का अर्थ 'सम्यग्ज्ञान' होता है, और क्रिया का अर्थ 'शुद्धात्म-अनुभव क्रिया' होता है; इस विषय में समयसार नाटक में निम्नानुसार कथन है।

(दोहा)

सुद्धातम अनुभौ क्रिया, सुद्ध ग्यान द्रिग दौर।
मुक्ति-पंथ साधन यहै, वाग्जाल सब और॥१२६॥

(सर्वविशुद्धि द्वार)

अर्थ—सम्यग्दर्शन, शुद्ध ज्ञान और शुद्धात्म-अनुभव क्रिया,

यह मोक्ष का मार्ग और साधन है, अन्य सब वाग्जाल है ॥१२६॥

इससे सिद्ध हुआ कि 'क्रिया' का अर्थ इस स्थान पर ज्ञान में स्थिरता अर्थात् शुद्धात्म-अनुभव क्रिया है। शुभ-अशुभभाव / क्रिया या शरीर की क्रिया नहीं है। ●

ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः (२)

१—पहले प्रकरण में आत्मा की शुद्ध और अशुद्ध—ऐसी दो प्रकार की क्रिया कही है, उस सम्बन्ध में विशेष स्पष्टीकरण यहाँ किया जाता है।

२—आत्मा की शुद्धक्रिया को ज्ञानक्रिया कहा जाता है, और आत्मा की अशुद्ध क्रिया को क्रोधादिक्रिया कहा जाता है। पहली अर्थात् ज्ञानक्रिया का कोई भी ज्ञानी निषेध नहीं करते और दूसरी अर्थात् क्रोधादिक्रिया का अनन्त ज्ञानियों ने निषेध किया है। 'क्रोधादि'—इस शब्द का अर्थ है 'जीव के मिथ्यात्व और राग-द्वेषरूप भाव।' इस सम्बन्ध में श्री समयसार की गाथा ६९-७० की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने निम्न प्रकार कहा है:—

'जिस प्रकार यह आत्मा, जिनको तादात्म्यसिद्धसम्बन्ध है, ऐसे आत्मा और ज्ञान में विशेष (अन्तर, भिन्न लक्षण) न होने से उनका भेद न देखता हुआ, नि:शंकतापूर्वक ज्ञान में अपनेरूप से प्रवर्तमान रहता है, और वहाँ (ज्ञान में अपने रूप से) प्रवर्तन करता हुआ वह, ज्ञानक्रिया स्वभावभूत होने के कारण उसका निषेध नहीं किया है इसलिए, जानता है—जाननेरूप परिणमित होता है; उसी प्रकार जहाँ तक यह आत्मा, जिनको संयोग -सिद्धसम्बन्ध है, ऐसे आत्मा और क्रोधादि आस्रवों में भी, अपने अज्ञानभाव के कारण, विशेष न जानता हुआ उनका भेद नहीं देखता, तब तक नि:शंकतापूर्वक

क्रोधादि में अपनेरूप से प्रवर्तमान रहता है, और वहाँ (क्रोधादि में अपनेरूप से) वर्तता हुआ वह, यद्यपि क्रोधादि क्रिया परभावभूत होने से उसका निषेध किया गया है, तथापि उसे वह स्वभावभूत होने का अध्यास होने से क्रोधरूप परिणमित होता है, रागरूप परिणमित होता है, मोहरूप परिणमित होता है।'

३—ज्ञानक्रिया को 'ज्ञप्तिक्रिया' भी कहा जाता है, और क्रोधादि क्रिया को 'करोतिक्रिया' भी कहा जाता है। उस अशुद्ध क्रिया के दूसरे भी नाम हैं, वे आगे कहे जायेंगे।

४—करनेरूप क्रिया के भीतर जाननेरूप क्रिया भासित नहीं होती, और जाननेरूप क्रिया के भीतर करनेरूप क्रिया भासित नहीं होती; इसलिए ज्ञप्तिक्रिया और करोतिक्रिया दोनों भिन्न हैं।

(देखो, समयसार कलश ९७)

भावार्थ—'मैं परद्रव्य को करता हूँ'—ऐसे भावरूप जब आत्मा परिणमित होता है, तब वह कर्ताभावरूप परिणमन क्रिया करता होने से अर्थात् करोतिक्रिया करता होने से कर्ता ही है, और जब 'मैं परद्रव्य को जानता हूँ'—ऐसा परिणमित होता है तब ज्ञाताभावरूप परिणमित होने से अर्थात् ज्ञप्तिक्रिया करता होने से ज्ञाता ही है।

(देखो, समयसार कलश ९७ का भावार्थ)

उपरोक्त नियम से सिद्ध हुआ कि आत्मा का ज्ञान और जड़ की क्रिया—इन दोनों के एकत्रित होने से मोक्ष होता है, ऐसा किसी भी ज्ञानी ने स्वीकार नहीं किया है, परन्तु आत्मा के सम्यग्ज्ञान और स्थिरतारूप क्रिया अर्थात् शुद्धज्ञान और शुद्धचारित्ररूप क्रिया द्वारा मोक्ष होता है, ऐसा अनन्त ज्ञानियों ने स्वीकार किया है। ज्ञप्तिक्रिया को सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक का सम्यक्चारित्र भी कहा जाता है।

५—जगत में जो क्रिया है, वह सब परिणाम (अवस्था, हालत, दशा) स्वरूप होने से वास्तव में परिणाम से भिन्न नहीं है (-परिणाम

ही है); परिणाम भी परिणामी से (द्रव्य से) भिन्न नहीं है, क्योंकि परिणाम और परिणामी अभिन्न वस्तु है (पृथक्-पृथक् दो वस्तुएँ नहीं हैं); इसलिए ऐसा सिद्ध हुआ कि जो भी क्रियाएँ हैं, वे सब क्रियावान से (द्रव्य से) भिन्न नहीं हैं। ऐसी, वस्तुस्थिति से ही अर्थात् वस्तु की ऐसी ही मर्यादा होने के कारण क्रिया और कर्ता का अभिन्नत्व सदैव प्रगट होने से, जीव जिस प्रकार व्याप्य-व्यापकभाव से अपने परिणाम को करता है और भाव्यभावकभाव से उसी का अनुभवन करता है; उसी प्रकार यदि व्याप्य-व्यापकभाव से पुद्गलकर्म को भी करे और भाव्य-भावकभाव से उसी को भोगे तो वह जीव, अपनी और पर की एकमेक हुई दो क्रियाओं से अभिन्नत्व का प्रसंग आने पर स्व-पर का परस्पर विभाग अस्त हो जाने से (नाश को प्राप्त होने से) अनेक द्रव्यस्वरूप एक आत्मा का अनुभवन करता हुआ मिथ्यादृष्टिता के कारण सर्वज्ञ के मत से बाहर है।

दो द्रव्यों की क्रिया भिन्न ही है। जड़ की क्रिया चेतन नहीं करता, चेतन की क्रिया जड़ नहीं करता। जो पुरुष एक द्रव्य को दो क्रियाएँ करता माने, वह मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि दो द्रव्यों की क्रिया एक द्रव्य करता है—ऐसा मानना जिन का मत नहीं है।

(समयसार, गाथा ८५)

इस प्रकार क्रिया का अर्थ परिणाम, पर्याय, हालत, दशा अथवा वर्तमान अवस्था होता है, इससे 'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः' इस सूत्र में ज्ञान का अर्थ सम्यग्ज्ञान और क्रिया का अर्थ—'स्थिरतारूप वर्तमान वर्तती चारित्र की अवस्था' होता है; और उसी प्रकार ही सर्व विकार का नाश होता है, उस पवित्रता का नाम मोक्ष अर्थात् विकार (अपवित्रता) से मुक्तपना है। ●

नोट—व्यापक=फैलनेवाला (-प्रसरनेवाला) द्रव्य; व्याप्य=फैली (-प्रसरित) हुई दशा; भावक=भोगने वाला; भाव्य=भोगनेयोग्य दशा; व्यापक द्रव्य है, व्याप्य उसकी पर्याय है; भावक द्रव्य है, भाव्य उसकी पर्याय (अवस्था) है।

ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः (३)

१—'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः' अत्यन्त छोटा सूत्र है, परन्तु इस छोटे से सूत्र में गम्भीर मर्म भरा हुआ है; उस मर्म की जिसे खबर नहीं है, वह अर्थ करने में भूल करेगा—यह तो स्वाभाविक है।

२—यह सूत्र संस्कृत भाषा में है, इससे जो मागधी भाषा के मूल सूत्र को ही मात्र मानें और उसके अतिरिक्त अन्य किसी को तीर्थंकरप्रणीत न मानें, उनका तो इस सूत्र के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। तथापि कितने ही लोग यह सूत्र अपनी मान्यता की पुष्टि करता है—हाँ कहता है, ऐसा मानकर अपने अनुकूल अर्थ करते हैं। वे क्या अर्थ करते हैं और वह अर्थ बराबर है या नहीं ?—उसका यहाँ विचार करते हैं।

३—कितने ही कहते हैं कि—आत्मा के ज्ञान और जड़ (शरीर) की क्रिया से मोक्ष होता है, उनकी स्वीकृति में ऐसी दलील करते हैं कि यह सूत्र द्विवचन में है; इसलिए आत्मा का ज्ञान और शरीर की क्रिया—ऐसे दोनों को न लें तो द्विवचन नहीं आयेगा, इसलिए व्याकरण की दृष्टि से ऐसा ही अर्थ होता है।

यह सूत्र द्विवचन में है, यह यथार्थ है, परन्तु उससे 'शरीर की क्रिया'—ऐसा अर्थ नहीं होता। उसके कारण निम्न प्रकार हैं:—

● शरीर एक द्रव्य नहीं है, परन्तु अनन्त पुद्गलद्रव्यों का बना हुआ है; इसलिए एक आत्मा और अनन्त पुद्गलद्रव्यों (शरीर) की क्रिया होने से अनन्त द्रव्यों की क्रिया अनन्ती होगी; अर्थात् मोक्ष एक आत्मा के ज्ञान और अनन्त पुद्गलद्रव्यों की जो अनन्ती क्रिया एक समय में होती है, उससे होगा—ऐसा अर्थ होता है, परन्तु इस सूत्र में तो द्विवचन है, बहुवचन नहीं है; इसलिए यह अर्थ व्याकरण की दृष्टि से मिथ्या सिद्ध होता है।

● जब शरीर का कार्य होता है, तब जड़कर्मों का भी कार्य होता

है। जड़कर्म के उदय का और शरीर की क्रिया का सम्बन्ध है, इससे यदि जीव के आत्मज्ञान से और शरीर की क्रिया से मोक्ष होता हो तो वास्तव में ऐसा कहना चाहिये कि जीव का आत्मज्ञान, अनन्त कर्म की क्रिया और शरीर की क्रिया—इन तीनों से मोक्ष होता है। शरीर अनन्त द्रव्यरूप है और जड़कर्म भी अनन्त द्रव्य हैं, तथापि प्रत्येक को एक-एक द्रव्य लें, तो भी तीन हुए, इसलिए भी उपरोक्त अर्थ व्याकरणदृष्टि से मिथ्या सिद्ध होता है। जहाँ तीन हों, वहाँ संस्कृत में द्विवचन नहीं आता परन्तु बहुवचन आता है।

● प्रत्येक जीव एक है और शरीर अनन्त द्रव्यों का पिण्ड है। शरीर के एक पिण्ड की स्थूलदृष्टि से भी एक क्रिया नहीं होती; जिस प्रकार जीव ध्यान में हो, तब शरीर की अवस्था की क्रिया का विचार किया जाए तो पैर इत्यादि बैठने के आकार में हैं, कमर के ऊपर के भाग की क्रिया उससे भिन्न अर्थात् सीधी खड़ी हुई है और हाथों की स्थिति उससे भी भिन्न प्रकार की होती है, मुख की स्थिति सीधी या नमी हुई भी होती है; इस प्रकार भिन्न-भिन्न अवयवों की क्रिया भिन्न-भिन्न प्रकार की है, परन्तु सूत्र में तो द्विवचन है और यह तो दो की अपेक्षा अधिक क्रियाएँ हुईं; इस प्रकार भी व्याकरण की दृष्टि से वह अर्थ मिथ्या सिद्ध होता है।

● कितने ही जीवों को दुष्ट, घाणी में डालकर पेलते हैं और ज्ञानी उस समय साम्यभाव रखकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। अब यहाँ घाणी में पेलने के कार्य में शरीर के अवयवों की क्रियाएँ पृथक्-पृथक् होती हैं, इससे भी वहाँ 'भ्याम्' द्विवचन बतानेवाला शब्द नहीं होना चाहिए, परन्तु बहुवचन बतानेवाला शब्द होना चाहिए। इस प्रकार भी अर्थ मिथ्या सिद्ध होता है।

४— सैद्धान्तिक दृष्टि से वह अर्थ मिथ्या है, उसके कारण निम्न प्रकार हैं:—

(१) प्रत्येक जीव एक चैतन्यद्रव्य है। मोक्ष, जीव की पूर्ण पवित्र अवस्था है। मोक्ष अर्थात् विकारी अवस्था से मुक्त होना। जीव स्वतः अपने द्वारा अपने में विकार करता है; इसलिए स्वतः अपने द्वारा अपने में से विकार को दूर करे तो हो सकता है। यदि जीव, जड़ का कुछ कार्य करे तो जड़ हो जाए; यदि शरीर, जीव का कार्य करे तो वह अनन्त पुद्गलद्रव्य मिटकर एक चैतन्यद्रव्य हो जाए। इस प्रकार द्रव्यों का लोप होने लगे तो जीव का भी लोप हो जाए; इसलिए जीव का आत्मज्ञान और शरीर की क्रिया द्वारा मोक्ष होता है—ऐसा मानना मात्र भ्रम है।

(२) जीव में पुद्गल व्याप्त नहीं होता, पुद्गल में जीव व्याप्त नहीं होता; तब फिर जो पुद्गल अपने में व्याप्त होता है और जीव में व्याप्त नहीं होता—ऐसे अनन्त पुद्गल अपनी क्रिया से आत्मा को किस प्रकार मोक्ष में ले जायेंगे? नहीं ले जा सकते-यह स्पष्ट है।

(३) जीव और शरीर दोनों एकत्रित होकर मोक्ष का कार्य करें तो जीव और शरीर दोनों को मोक्ष क्षेत्र में जाना चाहिए परन्तु वैसा नहीं होता। जीव अकेला ही मोक्ष क्षेत्र में जाता है। श्रीमद् राजचन्द्रजी आत्मसिद्धि शास्त्र में कहते हैं कि:—

इसी धर्म से मोक्ष है तू है मोक्षस्वरूप।
अनन्त दर्शन-ज्ञान तू, अव्याबाध स्वरूप॥११६॥

(आत्मसिद्धि)

यहाँ तो जीव अकेले को ही मोक्षस्वरूप कहा है; जीव और शरीर को मोक्ष स्वरूप नहीं कहा है।

(४) एक द्रव्य की पर्याय, वह द्रव्य स्वतः ही करता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता; प्रत्येक द्रव्य स्वद्रव्य से-क्षेत्र से-काल से-भाव से अस्तिरूप है और परद्रव्य से-क्षेत्र से-

काल से-भाव से नास्तिरूप है। शरीर अनन्त द्रव्य हैं, उसका प्रत्येक परमाणु भी अपने-अपने स्वद्रव्य से-क्षेत्र से-काल से और भाव से अस्तिरूप है, और शरीर के अन्य परमाणु के द्रव्य से-क्षेत्र से-काल से और भाव से नास्तिरूप है; इससे एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता; इसलिए जीव के ज्ञान और शरीर की क्रिया से मोक्ष होता है—यह मानना बिल्कुल मिथ्या है।

(५) जब जीव में सम्यग्ज्ञान हो, तब उसी समय सम्पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं होती। (सम्यग्दर्शन में लब्धि और उपयोग के भेद नहीं हैं, किन्तु छद्मस्थदशा में) सम्यग्ज्ञान किसी समय लब्धिरूप और कभी उपयोगरूप होता है; इसलिए ज्ञान सम्यक् हो परन्तु पूर्ण वीतरागता प्रगट न हुई हो, वहाँ तक मोक्ष नहीं होता। वीतरागता, जीव की शुद्ध क्रिया है, उसे चारित्र की निर्मल क्रिया कहा जाता है और ज्ञान की स्थिरता भी कहा जाता है। इसलिए इस सूत्र का अर्थ निम्न प्रकार होता है:—

(१) जीव का सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की पूर्णता से मोक्ष होता है।

(२) जीव का सम्यग्ज्ञान और उस सम्यग्ज्ञान से ज्ञान में पूर्ण स्थिरतारूप क्रिया से मोक्ष होता है।

(३) जीव का सम्यग्ज्ञान और पूर्ण वीतरागतारूप अपनी पर्याय (क्रिया, परिणमन) से मोक्ष होता है।

(४) जीव के दो गुणों की पूर्णता वहाँ आती होने से व्याकरण के नियमानुसार उसमें द्विवचनसूचक 'भ्याम्' शब्द यथार्थ आया है।

(५) जहाँ सम्यग्ज्ञान हो, वहाँ सम्यग्दर्शन होता है, इसलिए 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः'—ऐसा भी उपरोक्त सूत्र का अर्थ होता है।●

प्रकरण : २

ज्ञप्तिक्रिया (१)

१—यहाँ ज्ञप्तिक्रिया का विशेष स्वरूप बताया जाता है; उसका स्वरूप समयसार में निम्नानुसार दिया है:—

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥६२॥

अर्थ—आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है; वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य क्या करेगा? आत्मा परभावों का कर्ता है—ऐसा मानना (तथा कहना), वह व्यवहारी जीवों का मोह-अज्ञान है।

(समयसार, कलश ६२)

२—आत्मा की क्रिया दो प्रकार की है, एक 'ज्ञप्तिक्रिया' और दूसरी 'ज्ञेयार्थ परिणमन क्रिया'। उसमें ज्ञान की राग-द्वेष-मोहरहित ज्ञातारूप क्रिया को 'ज्ञप्तिक्रिया' कहा जाता है और जो राग-द्वेष-मोह से पदार्थ को जानना, उस क्रिया को 'ज्ञेयार्थ परिणमन क्रिया' कहा जाता है। ज्ञेयार्थ परिणमन क्रिया से बन्ध होता है और ज्ञप्तिक्रिया से बन्ध नहीं होता। *(प्रवचनसार, अध्याय-१ गाथा पर नीचे की टीका)*

३—कितने ही लोग कहते हैं कि:—ज्ञान, क्या कोई क्रिया कहलाती है? अन्य कुछ करना चाहिये; उन्हें इतना ही उत्तर बहुत है कि—'आत्मा ज्ञान के अतिरिक्त और क्या कर सकता है? या तो ज्ञान करेगा और नहीं तो अज्ञान।' अनादि से चली आ रही ज्ञान की भूल को दूर करना और मिथ्याज्ञान को टालकर सम्यग्ज्ञान प्रगट करना, वह ज्ञान की क्रिया है; वह ज्ञान की क्रिया सम्यग्दृष्टि को (चौथे गुणस्थान में) प्रगट होती है और उस ज्ञान में स्थिरतारूप

क्रिया बढ़ते-बढ़ते उस ज्ञान की स्थिरतारूप पूर्ण क्रिया, वह 'यथाख्यातचारित्र' है। सम्यग्दृष्टि के ही यह ज्ञप्ति क्रिया होती है परन्तु मिथ्यादृष्टि के वह क्रिया नहीं होती। जीव क्रिया सम्पन्न होने से मिथ्यादृष्टि से 'करोतिक्रिया' अर्थात् 'ज्ञेयार्थपरिणमन क्रिया' होती है। ऊपर के पैरा नं०२ में मोह का अर्थ मिथ्यात्व और राग-द्वेष का अर्थ अनन्तानुबन्धी राग-द्वेष होता है। सम्यग्दृष्टि के वैसा राग-द्वेष-मोह नहीं होता, इसलिए सम्यग्दृष्टि को राग-द्वेष-मोह रहित जानने की क्रिया अर्थात् ज्ञप्तिक्रिया होती है। इस सम्बन्ध में श्री समयसारजी में निम्नानुसार कथन है:—

'यहाँ कोई पूछता है कि अविरति सम्यग्दृष्टि आदि को जब तक चारित्रमोह का उदय है, तब तक वह कषायरूप परिणमित होता है तो उसे (करोतिक्रिया का) कर्ता कहा जाता है या नहीं?

उसका समाधान:—अविरति सम्यग्दृष्टि आदि को श्रद्धा-ज्ञान में परद्रव्य के स्वामित्वरूप कर्तापने का अभिप्राय नहीं है; कषायरूप परिणमन है, वह उदय की बलजोरी से है, उसका वह ज्ञाता है; इससे अज्ञान सम्बन्धी कर्तृत्व उसके नहीं है।×××'

इस प्रकार अविरति सम्यग्दृष्टि आदि को दृष्टि की अपेक्षा से ज्ञप्तिक्रिया है परन्तु करोतिक्रिया नहीं है।

४—इस ज्ञप्तिक्रिया को 'ज्ञानक्रिया' भी कहा जाता है। उसका स्वरूप श्री समयसार नाटक में निम्नानुसार दिया है:—

(दोहा)

ज्ञानक्रिया का स्वरूप

विनसि अनादि असुद्धता, होई सुद्धता पोख;
ता परिनति को बुध कहै, ज्ञानक्रिया सौ मोख।

(साध्य-साधक द्वार ३८)

अर्थः—जिससे अनादि की अशुद्धता का नाश हो और शुद्धता की पुष्टि हो, उस परिणति को (आत्मा की शुद्ध अवस्था को) ज्ञानी ज्ञानक्रिया कहते हैं और उससे मोक्ष होता है।

५—क्रिया का अर्थ शुद्धज्ञान में स्थिरतारूप चारित्र होता है। सच्चा (सम्यक्) चारित्र, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही हो सकता है। अकेले सम्यग्दर्शन से मोक्ष नहीं हो सकता, वैसे ही सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र से मोक्ष नहीं हो सकता; इसलिए जहाँ उन दोनों का एकत्व हो, वहीं मोक्ष होता है—ऐसा बताने के लिये 'ज्ञानक्रिया से मोक्ष होता है'—ऐसा कहा है। आत्मा का ज्ञान और शरीर की क्रिया—इन दोनों के एकत्व से मोक्ष होता है—ऐसा बताने के लिये नहीं कहा है।

ऊपर से भी सिद्ध होता है कि आत्मा के शुद्धरूप (तद्रूप) परिणाम को ही क्रिया कहा जाता है। ●

ज्ञानक्रिया (२)

१—पूर्व प्रकरण में कहा है कि—सम्यग्दर्शन (ज्ञान) और ज्ञान में स्थिरतारूप चारित्र से मोक्ष होता है; वह दोनों आत्मा के गुण की शुद्ध अवस्थाएँ हैं। चारित्र कहीं जड़ शरीर की अवस्था नहीं है। इस सम्बन्ध में श्री समयसार नाटक में निम्नानुसार कहा है:—

जहाँ शुद्ध ज्ञान है, वहाँ चारित्र है।

(सवैया इकतीसा)

जहाँ सुद्ध ज्ञान की कला उदोत दीसै तहाँ,
सुद्धता प्रवांन सुद्ध चारित कौ अंस है।

(सर्वविशुद्धिद्वार, काव्य ८२)

अर्थ—जहाँ शुद्ध ज्ञान की कला का प्रकाश दिखायी देता है, वहाँ उसके अनुसार शुद्ध चारित्र का अंश रहता है।

२—इस शुद्ध चारित्र को क्रिया कहा जाता है—ऐसा काव्य ८४-८५ में कहा है। वह गाथा निम्न प्रकार है:—

ज्ञान-चारित्र पर पंगु-अन्ध का दृष्टान्त।

(दोहा)

ज्यों अन्ध के कन्ध पर, चढ़े पंगु नर कोइ;
वाके दृग वाके चरन, होंहिं पथिक मिलि दोइ॥८४॥

जहाँ ज्ञान किरिया मिलै, तहाँ मोख-मग सोइ;
वह जानै पद कौ मरम, वह पद में थिर होइ॥८५॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई लँगड़ा मनुष्य, अन्धे आदमी के कन्धों पर चढ़ जाये तो लँगड़े की आँखें और अन्धे के पैरों के योग से गमन होता है; उसी प्रकार जहाँ ज्ञान और चारित्र की एकता है, वह मोक्षमार्ग है क्योंकि ज्ञान, आत्मा के मर्म को जानता है और चारित्र आत्मा के पद में स्थिरता प्रगट करता है।

नोट:—दृष्टान्त दो पृथक्-पृथक् द्रव्यों का है परन्तु दृाष्टान्त में / सिद्धान्तों में आत्मा एक ही द्रव्य है और ज्ञान-चारित्र एक ही द्रव्य के दो गुणों की शुद्धपर्यायें हैं। दृष्टान्त सदैव सिद्धान्त को एक अंश में ही लागू होता है, सर्वांश में नहीं।

३—ऐसा शुद्ध चारित्र (क्रिया) सम्यग्ज्ञानी के ही होता है—ऐसा अब बतलाया जाता है:—

भेदज्ञान का पराक्रम

(सवैया इकतीसा)

जैसें कोऊ मनुष्य अजान महाबलवान,
खोदी मूल वृच्छकौ उखारै गहि बाहू सौं।

तैसें मतिमान दर्वकर्म-भावकर्म त्यागि;
ह्वै रहै अतीत मति ज्ञान की दशाहूसौं।
याही क्रिया अनुसार मिटै मोह अंधकार;
जगै जौति केवल प्रधान सवितहूसौं ॥५८॥

[बंधद्वार, समयसार नाटक]

अर्थ—जिस प्रकार कोई महाबलवान अज्ञानी मनुष्य, वृक्ष की जड़ को अपने हाथ से उखाड़ डालता है; उसी प्रकार भेदज्ञानी पुरुष, भावकर्म और द्रव्यकर्म को त्यागकर उससे पर (अतीत) होकर मतिज्ञान की दशा में रहता है; वह ज्ञान की क्रिया-अनुसार मोह अन्धकार का नाश करता है।

४—सम्यग्दृष्टि ही मोक्षमार्ग का साधक है और इसी से कहा है कि:—जहाँ मोक्षमार्ग साधन किया, वहाँ कहा कि—'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग:' और ऐसा भी कहा है कि 'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्ष:'—इन दोनों सूत्रों का भाव एक ही है।

(बनारसीविलास, पृष्ठ २२९)

५—जिस प्रकार ज्ञप्तिक्रिया को 'ज्ञानक्रिया' कहा जाता है, उसी प्रकार उसे अनुभवरूप क्रिया, ज्ञानवश क्रिया, शुद्ध चैतन्यक्रिया, शुद्धचारित्र—यह नाम भी दिये जाते हैं। 'अनुभवरूपक्रिया'—यह भाव नीचे की स्तुति (मंगलाचरण) में आता है:—

नमः समयसाराय, स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय, सर्व भावांतरच्छिदे॥

(समयसार, कलश १)

इस स्तुति (मंगलाचरण) में 'स्वानुभूत्या चकासते' इस पद का अर्थ ऐसा होता है कि जीव अपनी ही अनुभवरूप क्रिया से प्रकाशित होता है अर्थात् अपने को स्वत: ही जानता है। ●

ज्ञप्तिक्रिया (३)

१—क्रिया का अर्थ ज्ञान में स्थिरतारूप शुद्धचारित्र है, ऐसा ऊपर बताया है, इसलिए 'चारित्र' क्या है, वह यहाँ बतलाया जाता है।

२—वास्तव में आत्मा में अपने स्वरूप के आचरणरूप जो चारित्र है, वह धर्म अर्थात् वस्तु का स्वभाव है। जो स्वभाव है, वह धर्म है; इस कारण अपने स्वरूप को धारण करने से 'चारित्र' का नाम 'धर्म' कहा जाता है। जो धर्म है, वही समभाव है। मिथ्यादर्शन और मिथ्याचारित्ररहित आत्मा के परिणाम, वह साम्यभाव (समभाव) है, इसलिए 'वीतरागचारित्र' वस्तु का स्वभाव है। वीतरागचारित्र, निश्चयचारित्र, धर्म, समभाव, साम्यभाव, समपरिणाम—यह सब एकार्थवाची हैं। मोह से भिन्न जो आत्मा के निर्विकार परिणाम स्थिररूप सुखमय हैं, वह चारित्र का स्वरूप है। शुद्ध चित्स्वरूप से चरण, वह चारित्र है। *(प्रवचनसार, गाथा ७ संस्कृत टीका)*

३—तब फिर यह **प्रश्न** उठता है कि—शरीर की जो क्रिया है, वह निश्चयचारित्र को सहायक है या नहीं?

उत्तर—नहीं। पर की सहायता से स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती। यदि आत्मा पराधीन हो तो आकुलतामय हो जाए और जहाँ आकुलता है, वहाँ स्वरूप की प्राप्ति नहीं है; इस कारण पर की सहायता के बिना ही आत्मा निराकुल होता है। ऐसी सुख दशा अपनी ही सहायता से स्वत: प्राप्त करता है। जो अपनी अनन्त शक्तिरूप सम्पदा से परिपूर्ण है, वह दूसरों की अपेक्षा क्यों रखेगा? कभी नहीं।

(प्रवचनसार, गाथा १६ की हिन्दी टीका, पण्डित हेमराज कृत)

४—इससे सिद्ध हुआ कि—'शारीरिक क्रिया से' या 'करोतिक्रिया' से मोक्ष नहीं होता; और इस कारण 'ज्ञप्तिक्रिया' में क्रिया का अर्थ शुद्धस्वरूप में रमणतारूप स्थिरता है, दूसरा कोई अर्थ नहीं है।

५—इसलिए मोक्ष की क्रिया में 'क्रिया' शब्द का अर्थ निम्न प्रकार से हुआ—(१) ज्ञप्तिक्रिया, (२) ज्ञानक्रिया, (३) ज्ञानवशक्रिया, (४) शुद्ध चैतन्यक्रिया, (५) शुद्धचारित्र, (६) अनुभवरूपक्रिया, (७) वीतरागचारित्र, (८) निश्चयचारित्र, (९) स्वभाव, (१०) धर्म, (११) समभाव, (१२) साम्यभाव, (१३) समपरिणाम, (१४) आत्मा के स्थिररूप सुखमय निर्विकार परिणाम, (१५) शुद्धचित्स्वरूप का चरण। कोई भी ज्ञानी इस क्रिया का निषेध नहीं करते किन्तु आचरण करते हैं और आत्मा की समस्त विकारी क्रिया का अनन्त ज्ञानी निषेध करते हैं, क्योंकि वह कषायमयी है, अकषायीभाव की नहीं है; इसलिए पर है। शरीर की क्रिया आत्मा कर नहीं सकता और वह आत्मा को सहायक नहीं है—यह तो ऊपर कहा है। ●

प्रकरण ३

करोतिक्रिया (१)

१—'करोतिक्रिया' का संक्षिप्त स्वरूप प्रकरण २-३ में कहा गया है, इस क्रिया के द्वारा आत्मा संसार की वृद्धि करता है; इसलिए उसे छोड़ने के लिए उसका स्वरूप यहाँ दिया जा रहा है।

२—रागादि या परवस्तु के प्रति एकत्वबुद्धिसहित शुभाशुभ-भावरूप प्रवर्तमान जीव की अज्ञानमयपरिणति को 'करोतिक्रिया' कहा जाता है। उसका यदि छेदन किया जाये, तभी मोक्ष होता है और यदि उसे अंगीकार किया जाये तो जीव संसारी रहता है—इस सम्बन्ध में श्रीमद् राजचन्द्र श्री आत्मसिद्धि शास्त्र में निम्न प्रकार कहते हैं:—

बीता काल अनन्त वह, कर्म शुभाशुभ भाव।
इन्हीं शुभाशुभ नाश से, उपजे मोक्ष स्वभाव ॥९०॥

अर्थ—जीव ने शुभाशुभभावरूप 'भावकर्म' किये, इससे अनन्त काल व्यर्थ गया; शुभाशुभभावों का यदि जीव छेदन करे, तभी मोक्षस्वभाव (पवित्रता) प्रगट होता है।

फिर वे कहते हैं कि—'शुभाशुभ और शुद्धाशुद्ध परिणामों पर सारा आधार है' (देखो, व्याख्यानसार-श्रीमद् राजचन्द्र, आवृत्ति-४, पृष्ठ ६८३-पैरा १५२) इसलिए जीव के अध्यवसानपूर्वक शुभाशुभ -भाव से अशुद्धपरिणाम हैं, और वही 'करोतिक्रिया' है।

३—इस सम्बन्ध में दो मिथ्या मान्यताएँ प्रचलित हैं, वे यह हैं:—

(I) जीव को सम्यग्दर्शन हुआ है या नहीं—यह जीव को स्वतः

खबर नहीं पड़ती, केवलज्ञानी को ही खबर होती है; इसलिए जिस प्रकार रूढ़िगत क्रियाएँ हम करते हैं, उसी प्रकार करते रहना चाहिए और उससे भविष्य में किसी समय आत्मा का शुद्धत्व प्रगट होगा।

(II) सामान्य मनुष्य तो आत्मा को समझते नहीं हैं, क्योंकि उसे समझना इस काल में कठिन है; इसलिए जो रूढ़िगत (नामनिक्षेप से) सामायिक, प्रतिक्रमण, उपवासादि हम करते हैं, वे करते रहना चाहिए और उससे भविष्य में आत्मा को मोक्ष का लाभ होगा, क्योंकि वे 'सामायिक आदि क्रियाएँ' संवर-निर्जरारूप हैं।

४—इस सम्बन्ध में पहली मान्यता भी मिथ्या है, यह बतलाया जाता है। श्रीमद् राजचन्द्र कहते हैं कि—'लोग कहते हैं कि सम्यक्त्व है या नहीं, वह केवलज्ञानी जानते हैं, परन्तु स्वयं आत्मा है, वह क्यों न जानेगा? कहीं आत्मा बाहर नहीं गया है; अर्थात् सम्यक्त्व हुआ है या नहीं—वह आत्मा स्वतः जानता है; जिस प्रकार कोई पदार्थ खाये जाने से वह अपना फल देता है, वैसे ही सम्यक्त्व आने पर भ्रान्ति दूर होने से उसका फल स्वतः जानता है; ज्ञान का फल ज्ञान देता ही है। पदार्थ का फल पदार्थ, लक्षण-अनुसार देता ही है। आत्मा में से कर्म जा रहें हों तो उसकी खबर अपने को कैसे नहीं होगी? अर्थात् होगी ही। सम्यक्त्व की दशा छुपी नहीं रहती *(देखो, श्रीमद् राजचन्द्र आवृत्ति ४, उपदेश छाया, पृष्ठ ५४८)* (समयससार गाथा २७७ की जयसेनाचार्य कृत संस्कृत टीका 'जो जीव शुद्धात्मा को उपादेय श्रद्धते हैं, उसे सप्त कर्म के उपशमादि होता है' अतः पता लगता है।)

५—श्री समयसार की गाथा ७५, १९८ से २०० में ज्ञानी के चिह्न बताये हैं। अब यदि जीव अपने को सम्यग्दर्शन का होना न जान सकता हो तो उसका ज्ञान ही सम्यक् नहीं है, क्योंकि उसका मति-श्रुतज्ञान अपने ज्ञान की पर्याय को यथार्थतया नहीं जानता। इस सम्बन्ध में गाथा ७५ में निम्नानुसार कथन है:—

'अब पूछते हैं कि—आत्मा ज्ञानस्वरूप अर्थात् ज्ञानी हुआ है—ऐसा कैसे जाना जाता है ? उसका चिह्न कहिये, उसके उत्तररूप गाथा कहते हैं:—

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥७५॥

जो कर्म का परिणाम, अरु नोकर्म का परिणाम है।
सो नहिं करे जो, मात्र जाणे, वो हि आत्मा ज्ञानि है।॥७५॥

गाथा १९८ से २०० में निम्न प्रकार कहा है:—

'अब प्रथम, सम्यग्दृष्टि सामान्यरूप से स्व को और पर को इस प्रकार जानता है—ऐसा गाथा में कहते हैं—

कर्मों हि के जु अनेक, उदय विपाक जिनवर ने कहे।
वे मुझ स्वभाव जु हैं नहीं, मैं एक ज्ञायकभाव हूँ॥१९८॥

अब, सम्यग्दृष्टि विशेषरूप से स्व और पर को इस प्रकार जानता है:—

पुद्गलकर्मरूप राग का हि, विपाकरूप है उदय ये।
ये है नहीं मुझभाव, निश्चय एक ज्ञायकभाव हूँ॥१९९॥

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि अपने को जानता और राग को छोड़ता हुआ नियम से ज्ञान-वैराग्य सम्पन्न होता है—ऐसा आगे की गाथा में कहते हैं:—

सद्दृष्टि इस रीत आत्म को, ज्ञायकस्वभाव हि जानता।
अरु उदय कर्मविपाक को वह, तत्त्वज्ञायक छोड़ता॥२००॥

इस सम्बन्ध में अधिक आधार आगे के प्रकरण में दिए जायेंगे।●

करोतिक्रिया (२)

१—'करोतिक्रिया' के पिछले प्रकरण में 'दो मिथ्या मान्यताएँ चल रही हैं' उसमें एक मान्यता ऐसी है कि—अपने को सम्यग्दर्शन हुआ है—यह छद्मस्थ जीव स्वयं नहीं जान सकता, परन्तु केवली भगवान ही जान सकते हैं; वह मान्यता मिथ्या है, ऐसा कितने ही शास्त्रों में बताया है, वह यहाँ विशेष बताया जाता है।

२—'नय' है, वह श्रुतज्ञान-प्रमाण का अंश है; श्रुतज्ञान वस्तु को परोक्ष बतलाता है; इससे यह नय भी परोक्ष ही बतलाता है। शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत बद्धस्पृष्टादि पाँच भावों से रहित आत्मा चैतन्यशक्ति मात्र है; वह शक्ति तो आत्मा में परोक्ष है ही। और उसकी व्यक्ति कर्म संयोग से मति-श्रुतादि ज्ञानरूप है, वह कथंचित् अनुभवगोचर होने के प्रत्यक्षरूप भी कहलाती है। *(समयसार गाथा १४ का भावार्थ)*। इस प्रकार तो आप अपने सम्यग्ज्ञान को परोक्षरूप से जानता है, वैसे ही अनुभवगोचरपने से प्रत्यक्षरूप से जानता है। और सम्यग्ज्ञान तथा सम्यग्दर्शन अविनाभावी होने से सम्यग्दर्शन को भी छद्मस्थ जानता है। 'शुद्धनय के विषयरूप आत्मा का अनुभव करो—ऐसा उपदेश है।' *(समयसार, गाथा १४ का भावार्थ)* यह उपदेश भी छद्मस्थ को सम्यग्ज्ञान की खबर न पड़ती हो तो वृथा जाये।

३—समयसार की गाथा ५ में आचार्य भगवान कहते हैं कि—'उस एकत्व-विभक्त आत्मा को मैं आत्मा के निज वैभव द्वारा दिखाता हूँ; यदि मैं दिखाऊँ तो प्रमाण करना।' उसकी टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं कि—'ऐसे जिस-जिस प्रकार से मेरे ज्ञान का विभव है, उस समस्त विभव से दर्शाता हूँ। यदि दर्शाऊँ तो स्वयमेव (अपने आप) अपने अनुभव-प्रत्यक्ष से परीक्षा करके प्रमाण करना।' आगे चलकर भावार्थ में बतलाया है कि—

'आचार्य आगम का सेवन, युक्ति का अवलम्बन, परापर गुरु का उपदेश और स्वसंवेदन—इन चार प्रकारों से उत्पन्न हुए अपने ज्ञान विभवा से एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा का स्वरूप दिखलाते हैं। उसे सुननेवाले हे श्रोताओं! अपने स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से प्रमाण करो।' इससे सिद्ध होता है कि अपने को सम्यक्त्व हुआ है, वह स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष से प्रमाण (यथार्थ ज्ञान) द्वारा खबर पड़ती है।

४—समयसार के ९वें कलश में आचार्य अमृतचन्द्रदेव बतलाते हैं कि—

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणम्
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेस्मि-
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव॥ ९॥

अर्थ—आचार्य शुद्धनय का अनुभव करके कहते हैं कि—इन सर्व भेदों को गौण करनेवाला जो शुद्धनय का विषयभूत चैतन्य चमत्कारमात्र तेज पुंज आत्मा, उसका अनुभव होने पर नयों की लक्ष्मी उदय को प्राप्त नहीं होती; प्रमाण अस्त को प्राप्त होता है और निक्षेपों का समूह कहाँ चला जाता है, वह हम नहीं जानते। इससे अधिक क्या कहें? द्वैत की प्रतिभासित नहीं होता।

भावार्थ—×××शुद्ध अनुभव होने से द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता, एकमात्र चिन्मात्र ही दिखायी देता है।

इससे भी सिद्ध होता है कि—चौथे गुणस्थान में भी आत्मा को स्वयं अपने सम्यग्ज्ञान का शुद्ध अनुभव होता है। समयसार में लगभग प्रत्येक गाथा में यह अनुभव होता है—ऐसा बतलाकर अनुभव करने का उपदेश किया है।

५—श्रीमद् राजचन्द्र आत्मसिद्धि शास्त्र में भी कहते हैं कि—

'वर्ते निज स्वभाव का, अनुभव लक्ष प्रतीत;
वृत्ति वहे निजभाव में, परमार्थे समकित॥१११॥

यह गाथा भी कहती है कि छद्मस्थ को अपने निज स्वभाव का अनुभव होता है; और वह परमार्थ से सम्यक्त्व है।

नोट—केवलज्ञानी और छद्मस्थ के बीच में अन्तर मात्र इतना ही है कि—केवली आत्मा को प्रत्यक्ष जानते हैं और छद्मस्थ भावश्रुतज्ञान के द्वारा परोक्षरूप से जानते हैं; और अनुभव से प्रत्यक्ष जानते हैं। परोक्षज्ञान सच्चा ज्ञान है क्योंकि सम्यग्ज्ञान प्रत्यक्ष और परोक्ष—ऐसे दो प्रकार का होता है। इसलिए जो सम्यग्ज्ञान प्रगट करे, उसके करोति क्रिया होती ही नहीं। ●

करोतिक्रिया (३)

(अपने को सम्यग्दर्शन है—ऐसा छद्मस्थ ज्ञानी जान सकता है। सम्यग्दर्शन से रहित सर्व क्रिया करोतिक्रिया है।)

१—यदि छद्मस्थ जीव को, सम्यग्दर्शन हुआ है—ऐसी खबर न पड़ती हो तो उसे प्रथम सम्यक्त्व प्राप्त करने का उपदेश दिया जाता है—वह निरर्थक जायेगा। श्री मोक्षपाहुड़ में 'श्रावक को प्रथम क्या करना चाहिए'—ऐसा प्रश्न पूछने पर आचार्यदेव कहते हैं कि प्रथम निर्मल सम्यक्त्व ग्रहण करना चाहिए। वह गाथा निम्न प्रकार है:—

गहिऊण य सम्मत्तं सुणिम्मलं सुरगिरीव णिक्कंप।
तं जाणे झाइज्जइ सावय! दुक्खक्खयट्ठाए॥ ८६॥

अर्थ—श्रावक को प्रथम सुनिर्मल और मेरुवत् निष्कम्प-अचल अर्थात् चल, मल और अगाढ़—इन तीन दोषों से रहित अत्यन्त निश्चल ऐसे सम्यग्दर्शन को ग्रहण करना चाहिए और दु:खों के क्षय के लिए उसके ध्यान में रहना चाहिए॥ ८६॥

सम्यग्दर्शन हुआ है, ऐसा यदि छद्मस्थ न जान सकता हो तो प्रथम सम्यग्दर्शन को ग्रहण करो—ऐसा उपदेश कैसे बन सकता है ?

२—दर्शनपाहुड़ की टीका में तो बतलाया है कि—सम्यग्दृष्टि यह तो जान सकता है कि अपने को सम्यग्दर्शन हुआ है; परन्तु दूसरों को हुआ है या नहीं—वह भी जान सकता है; इस सम्बन्ध में वहाँ निम्न प्रकार कहा है:—

''और उसकी परीक्षा सर्वज्ञ के आगम से तथा अनुमान से तथा सवानुभव प्रत्यक्ष से, इन प्रमाणों द्वारा की जाती है। और उसे निश्चय-तत्त्वश्रद्धान भी कहा जाता है। वहाँ अपने को तो अपने स्वसंवेदन को प्रधान करके (परीक्षा) होती है और पर को पर की परीक्षा करके पर के वचन और काय की क्रिया की परीक्षा से अन्तरंग में (सम्यक्त्व) होने की परीक्षा होती है, यह व्यवहार है; परमार्थ सर्वज्ञ जानते हैं।''

इस प्रकार अपने को सम्यग्दर्शन हुआ है, वह छद्मस्थ परोक्ष श्रुतज्ञान तथा प्रत्यक्ष स्वसंवेदन से जानता है। और पर को हुआ है या नहीं, वह परोक्ष श्रुतज्ञान से जानता है। श्रुतज्ञान सच्चा ज्ञान है। केवली भगवान अपना और पर का सम्यग्दर्शन प्रत्यक्ष जानते हैं।

३—समयसार गाथा १४४ में भी उसी अर्थ का लिखा है, उसका भावार्थ निम्न है:—

भावार्थ—आत्मा को पहले आगमज्ञान से ज्ञानस्वरूप निश्चय करके, पश्चात् इन्द्रिय बुद्धिरूप मतिज्ञान को ज्ञानमात्र में ही एकमेक करके तथा श्रुतज्ञानरूपी विकल्पों को मिटाकर श्रुतज्ञान को भी निर्विकल्प करके, एक अखण्ड प्रतिभास का अनुभव करना; वही 'सम्यग्दर्शन' और 'सम्यग्ज्ञान' ऐसे नाम प्राप्त करता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहीं अनुभव से भिन्न नहीं हैं।

४—सम्यक्त्व को जानने के निम्नोक्त चिह्न बताये हैं:—

(१) परमार्थ संस्तव।

(२) परमार्थ भलीभाँति दृष्टिगत हुआ है—ऐसों की सेवा।

(३) सम्यग्दर्शन नाश हुआ है—ऐसों का परिचय छोड़ना।

(४) कुदर्शनी की अर्थात् जिन्हें मिथ्यादर्शन है—जो आत्मा का स्वरूप नहीं जानते—ऐसों को छोड़ना।

इसमें प्रथम दो चिह्न 'अस्ति'रूप से और पिछले दो चिह्न 'नास्ति'रूप से कहे हैं। उसका विवरण निम्न प्रकार है:—

(१) **परमार्थ संस्तवः**—संस्तव का अर्थ स्तुति होता है। इस परमार्थ स्तुति के तीन प्रकार हैं।

(अ) ज्ञेय-ज्ञायक के संकरदोष का परिहार करना,

(ब) भाव्य-भावक-संकरदोष को दूर करना;

(स) भाव्य-भावक दोष का अभाव करना।

परमार्थ का अर्थ निश्चय है, इसलिए निश्चयस्तुति को यहाँ पर सम्यग्दर्शन का पहला लिंग (चिह्न) कहा है; उसमें ज्ञेय-ज्ञायक संकरदोष के परिहाररूप स्तुति चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होती है; भाव्यभावक-संकरदोष को दूर करनेरूप स्तुति उपशमश्रेणी में होती है और भाव्यभावक-संकरदोष का अभाव क्षपकश्रेणी में होता है। यहाँ निश्चयस्तुति को सम्यग्दर्शन का चिह्न कहा है; इसलिए निश्चय स्तुति क्या है, वह यहाँ कहा जाता है:—

जो इंदिये जिणत्ता णाणसहावाधिअं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहु॥३१॥

कर इन्द्रिजय ज्ञान स्वभाव रु, अधिक जाने आत्म को।
निश्चयविषैं स्थित साधुजन, भाषैं जितेन्द्रिय उन्हीं को॥३१॥

(समयसार, गाथा-३१)

अर्थ—जो इन्द्रियों को ('इन्द्रिय' शब्द लिया है—'द्रव्येन्द्रिय' नहीं लिया है, इसलिए भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय दोनों) जीतकर ज्ञानस्वभाव द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक (-पर से भिन्न-स्व से परिपूर्ण) आत्मा को जानते हैं उन्हें, जो निश्चयनय में स्थित साधु हैं, वे वास्तव में (यहाँ 'वास्तव में' शब्द है, इसलिए सच्चा जितेन्द्रिय कौन कहलाता है, वह बतलाया है।) जितेन्द्रिय कहते हैं।

टीका—अनादि अमर्यादरूप बन्धपर्याय के वश से जिनमें समस्त स्व-पर का विभाग अस्त हो गया है (अर्थात् जो आत्मा के साथ ऐसी एक हो रही है कि भेद दिखायी नहीं देता), ऐसी शरीर परिणाम को प्राप्त जो द्रव्येन्द्रियाँ हैं, उन्हें तो निर्मल भेद-अभ्यास की प्रवीणता से प्राप्त अन्तरंग में प्रगट हुआ जो अति सूक्ष्म चैतन्य-स्वभाव है उसके अवलम्बन के बल द्वारा पृथक् किया; यह द्रव्येन्द्रियों का जीतना हुआ। (निर्मल भेदज्ञान के अभ्यास क्रिया बतलाई है, न कि शुभराग)।

भिन्न-भिन्न, अपने-अपने विषयों में व्यापारपने से जो विषयों को खण्ड-खण्ड ग्रहण करती हैं (अर्थात् ज्ञान को खण्ड-खण्डरूप बतलाती हैं), ऐसी भावेन्द्रियों को, प्रतीति में आनेवाले अखण्ड एक चैतन्यशक्तिपने द्वारा अपने से भिन्न जाना; वह भावेन्द्रियों का जीतना हुआ।

ग्राह्यग्राहक लक्षणवाले सम्बन्ध की निकटता के कारण जो अपने संवेदन (अनुभव) के साथ परस्पर एक जैसे हो गये दिखायी देते हैं ऐसे, भावेन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जानेवाले जो इन्द्रियों के विषयभूत स्पर्शादि पदार्थ हैं उन्हें, अपनी चैतन्यशक्ति का स्वयमेव अनुभव में आनेवाला जो असंगपना है, उसके द्वारा अपने से पृथक् किया; यह इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों को जीतना हुआ।

इस प्रकार जो द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों और इन्द्रियों के विषयभूत

पदार्थ हैं—उन तीनों को जीतकर, ज्ञेय-ज्ञायक-संकर नाम का दोष आता था, वह सम्पूर्ण दूर होने से एकत्व में टंकोत्कीर्ण और ज्ञानस्वभाव द्वारा सर्व अन्य द्रव्यों से परमार्थतः पृथक्, ऐसे अपने आत्मा का अनुभवन करता है, वह निश्चय से जितेन्द्रिय-जिन है।

(ज्ञानस्वभाव अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है, इसलिए उसके द्वारा आत्मा सबसे अधिक / भिन्न ही है।) कैसा है ज्ञानस्वभाव ? विश्व के (समस्त पदार्थों के) ऊपर तैरता हुआ (अर्थात् उन्हें जानता होने पर भी उनरूप नहीं होता हुआ) प्रत्यक्ष उद्योतपने से सदैव अन्तरंग में प्रकाशमान, अविनश्वर, स्वतःसिद्ध और परमार्थरूप —ऐसा भगवान ज्ञानस्वभाव है। इस प्रकार एक निश्चयस्तुति तो यह हुई।

समयसार, गाथा-३२ में भाव्यभावकभाव के संकरदोष को दूर करनेवाली दूसरी निश्चयस्तुति का वर्णन किया है। ऐसे जीव को निश्चय से जितमोह कहा जाता है। गाथा-३३ में 'क्षीणमोहजिन' दशा, यह तीसरी निश्चयस्तुति है।

नोट—परमार्थ, भूतार्थ, सत्यार्थ यह पर्यायवाची शब्द हैं, इससे यहाँ 'परमार्थसंस्तव' का अर्थ होता है कि—'शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है, उसका आश्रय करने से सम्यग्दृष्टि हुआ जा सकता है। उसे जाने बिना जब तक जीव व्यवहार में मग्न है, तब तक आत्मा के ज्ञान-श्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व नहीं हो सकता।

(समयसार, गाथा-११ का भावार्थ)

(२) परमार्थ भलीभाँति दृष्टिगोचर हुआ है—वैसे जीवों की सेवना—

यह बोल भी बतलाता है कि—दूसरा जीव निश्चयसम्यग्दृष्टि है या नहीं—वह निश्चित किया जा सकता है; क्योंकि यदि वह निश्चित न हो सकता हो तो उसकी सेवना कैसे हो सकती है ? यह सम्यग्दृष्टि का शुभोपयोग है।

सम्यग्दृष्टि के उपरान्त सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र हो, वह भी सम्यग्दृष्टिपने की सूचना करता है, इससे सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र भी छद्मस्थ जान सकता है—ऐसा सिद्ध हुआ।

अब, जहाँ परमार्थस्तुति हो, तब क्या त्याग किया होता है—वह अब कहते हैं:—

(३) **वावण्ण** का अर्थ है व्यापन्नदर्शन, अर्थात् जिसे सम्यग्दर्शन था परन्तु वर्तमान में नाश हुआ है, उसे छोड़ना; यह बोल भी सिद्ध करता है कि सम्यग्दृष्टि दूसरे का सम्यग्दर्शन छूट गया हो तो वह भी जान सकता है।

(४) **कुदंसणवज्जणा**—कुदर्शन का छोड़ना अर्थात् जिसे सम्यगदर्शन होता है, उसे कुदर्शन (मिथ्यादर्शन, अर्थात् स्वरूप की भ्रमणा) छूट जाती है।

इस प्रकार सम्यक्त्व के लक्षण कहे; उनके द्वारा आप या पर सम्यग्दृष्टि है—ऐसा छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि जान सकता है—ऐसा सिद्ध हुआ। सम्यग्दर्शन से रहित क्रिया 'करोतिक्रिया' है।

(५) दूसरी मान्यता ऐसी है कि—सामान्य मनुष्य आत्मा को नहीं समझ सकते, क्योंकि उसे समझना इस काल में दुर्घट है। यह मान्यता बिल्कुल मिथ्या है। इस काल में मनुष्यभव, आर्य कुल, आर्य देश और वीतरागवाणी का योग प्रवर्तमान है, तब आत्मा समझ में न आये, ऐसा कहना मिथ्या है; इतना ही नहीं, परन्तु वह मिथ्यात्व का पोषक है। जो जीव आत्मा को न समझता हो, उसके वास्तव में वीतरागप्ररूपित सामायिक, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, तप होते ही नहीं, तब फिर वे क्रियाएँ संवर-निर्जरारूप हैं या नहीं—वह प्रश्न उसके लिए उठता ही नहीं। उस क्रिया का स्वरूप आगे बताया जाएगा। इस सम्बन्ध में श्री मोक्षमार्गप्रकाशक में स्पष्टतया निम्न प्रकार कहा है:—

'कोई जीव तो ऐसा मानते हैं कि—जानने से क्या है, मानने से क्या है, कुछ करेंगे तो फल प्राप्त होगा; ऐसा विचारकर वे व्रत-तपादि क्रियाओं के ही उद्यमी रहते हैं परन्तु तत्त्वज्ञान का उपाय नहीं करते। अब, तत्त्वज्ञान के बिना महाव्रतादिक का आचरण भी मिथ्याचारित्र नाम ही प्राप्त करता है और तत्त्वज्ञान होने से कुछ भी व्रतादिक न हों, तथापि वह असंयतसम्यग्दृष्टि नाम प्राप्त करता है। इसलिए प्रथम तत्त्वज्ञान का उपाय करना चाहिए और पश्चात् कषाय को कम करना चाहिए। श्री योगीन्द्रदेव कृत श्रावकाचार में भी कहा है कि—

'दंसणभूमिह बाहिरा जिय वयरुक्ख ण होंति।'

अर्थः—हे जीव! इस सम्यग्दर्शन भूमि के बिना व्रतरूपी वृक्ष नहीं होता; अर्थात् जिन जीवों को तत्त्वज्ञान नहीं है, वे यथार्थ आचरण नहीं करते।' **(मोक्षमार्गप्रकाशक अधिकार ७वाँ)**

विशेष चर्चा आगे के प्रकरण में है। ●

करोतिक्रिया (४)

अध्यात्म उपदेश इस काल में देना ही चाहिए, उसके बिना सर्व क्रिया 'करोति क्रिया' है।

१—यह काल निकृष्ट है, इसलिए सामान्य जीवों को व्रत, प्रत्याख्यानादि का ही उपदेश देना योग्य है—ऐसा कहना भी योग्य नहीं है। इस विषय में श्री मोक्षमार्गप्रकाशक में निम्नानुसार स्पष्टता की गई है:—

शंका—द्रव्यानुयोगरूप अध्यात्म उपदेश है, वह उत्कृष्ट है और वह उसी को कार्यकारी है जो उच्चदशा को प्राप्त हो, परन्तु निम्न (नीचे की) दशावालों को तो व्रत-संयमादि का ही उपदेश देना योग्य है।

समाधान—जिनमत में तो ऐसी परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व

होता है और पश्चात् व्रत होते हैं। अब, सम्यक्त्व तो स्व-पर का श्रद्धान होने से होता है और वह श्रद्धान, द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने से होता है; इसलिए प्रथम द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धा करके सम्यग्दृष्टि होता है और पश्चात् चरणानुयोग-अनुसार व्रतादिक धारण करके व्रती होता है; इस प्रकार मुख्यतया तो निम्नदशा में ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है तथा गौणरूप से जिसे मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती दिखायी न दे, उसे पहले किन्हीं व्रतादिक का उपदेश देने में आता है; इसलिए उच्च दशावाले को अध्यात्म उपदेश अभ्यास करनेयोग्य है—ऐसा जानकर निम्नदशावालों को वहाँ से पराङ्मुख होना योग्य नहीं है।

शंका—उच्च उपदेश का स्वरूप निम्नदशावालों को भासित नहीं होता।

समाधान—अन्य तो अनेक प्रकार की चतुराई जानता है और यहाँ मूर्खता प्रगट करता है, वह योग्य नहीं है। अभ्यास करने से स्वरूप बराबर भासित होता है तथा अपनी बुद्धि के अनुसार थोड़ा-बहुत भासित होता है, परन्तु सर्वथा निरुद्यमी होने की पुष्टि करना—यह तो जिनमार्ग का द्वेषी होना जैसा है।

शंका—यह काल निकृष्ट (नीचा) है, इसलिए उत्कृष्ट अध्यात्म के उपदेश की मुख्यता करना योग्य नहीं है।

समाधान—यह काल साक्षात् मोक्ष होने की अपेक्षा से निकृष्ट है, परन्तु आत्मानुभवन आदि के द्वारा सम्यक्त्वादि होने की इस काल में मनाई नहीं है, इसलिए आत्मानुभवनादि के प्रयोजन से द्रव्यानुयोग का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। मोक्षपाहुड़ में कहा है कि आज भी त्रिरत्न द्वारा शुद्ध जीव, आत्मा का ध्यान करके स्वर्गलोक में या लौकान्तिक देवत्व प्राप्त करते हैं और वहाँ से चयकर मनुष्य भव पाकर मोक्ष जाते हैं; इसलिए इस काल में भी द्रव्यानुयोग का उपदेश मुख्यपने से आवश्यक है।

(मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ८)

इन्दौर से मुद्रित श्री अनुभवप्रकाश में भी उसी प्रकार निम्न शब्दों में पृष्ठ ५५ में बतलाया है—

'कोई कहेगा आज के समय में निजस्वरूप की प्राप्ति कठिन है, बहिरात्मा तो परिग्रहवन्त है, तिसतैं स्वरूप पावने की चाह मेटि! किन्तु आज सौं अधिक परिग्रह चतुर्थ कालवर्ती महापुण्यवन्त नर चक्रवर्ती आदिक तिनके था, सो इसकैं तो थोरा है, सो परिग्रह जोरावरी इसके परिणाम में न आवे है। यों ही दौरि दौरि परिग्रह मैं घुसता है। जब निठला होय, तब विकथा करे, तब स्वरूप के परिणाम करै तो कौन रोकै? परपरिणाम सुगम, निजपरिणाम विषम बतावै है। देखौ अचिरज की बात! स्वयं देखे है, जाने है, 'देख्यो न जाय-जान्यो न जाय', ऐसे कहत लाज हू न आवै। संसार चातुरी कौं चतुर और आप जानिवे को शठ-ऐसौ हठधिठौही (धृष्टता) सौं पकरि-पकरि पर-रत व्यसन में गाढ़ौ भयो।''

२— कोई जीव कहता है कि :—'द्रव्यानुयोग में व्रत-संयमादि व्यवहार धर्म की हीनता प्रगट ही है, सम्यग्दृष्टि के विषय-भोगादि को निर्जरा का कारण कहा है; इत्यादि कथन सुनकर जीव स्वच्छन्दी बनकर पुण्य छोड़कर पाप में प्रवर्तन करेगा, इसलिए (वह) पढ़ना-सुनना योग्य नहीं है।' उससे कहते हैं कि—

'यदि मिश्री खाने से गधा मर जाये तो उससे कहीं मनुष्य तो मिश्री खाना नहीं छोड़ देते? उसी प्रकार कोई विपरीतबुद्धि जीव अध्यात्म ग्रन्थ सुनकर स्वच्छन्दी हो जाये तो उससे कहीं विवेकी जीव तो अध्यात्म ग्रन्थों का अभ्यास नहीं छोड़ देते। हाँ, इतना करते हैं जिसे स्वच्छन्दी होता जानें, उसे जिससे वह स्वच्छन्दी न हो, वैसा उपदेश देते हैं और अध्यात्म ग्रन्थों में भी स्वच्छन्दी होने का जगह-जगह निषेध किया जाता है; इसलिए जो उसे बराबर सुनता है, वह स्वच्छन्दी नहीं होता, तथापि कोई एकाध बात सुनकर अपने अभिप्राय

से स्वच्छन्दी हो तो वहाँ ग्रन्थ का तो दोष नहीं है किन्तु उस जीव का ही दोष है।'

और यदि झूठी दोषकल्पना द्वारा अध्यात्म शास्त्रों के पठन-श्रवण का निषेध किया जाये तो मोक्षमार्ग का मूल उपदेश तो वहीं है अर्थात् उसका निषेध करने से मोक्षमार्ग का निषेध होता है। जैसे मेघवृष्टि होने से अनेक जीवों का कल्याण होता है, तथापि किसी को उल्टी हानि हो तो उसकी मुख्यता करके मेघ का तो निषेध नहीं करना? वैसे ही सभा में अध्यात्म उपदेश होने से अनेक जीवों को मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है, तथापि कोई यदि उल्टा पाप में प्रवर्तमान हो जाये तो उसकी मुख्यता करके अध्यात्म शास्त्रों का निषेध तो नहीं करना?

दूसरे, अध्यात्मग्रन्थों से कोई स्वच्छन्दी हो जाये वह तो पहले भी मिथ्यादृष्टि था और आज भी मिथ्यादृष्टि ही रहा। हाँ, इतनी ही हानि होगी कि उसे सुगति न होकर दुर्गति होती है।

पुनश्च, अध्यात्म उपदेश न होने से अनेक जीवों को मोक्षमार्ग की प्राप्ति का अभाव होता है, इसलिए उससे तो अनेक जीवों का बुरा होता है, इसलिए अध्यात्म-उपदेश का निषेध करना योग्य नहीं है।

(मोक्षमार्गप्रकाशक-द्रव्यानुयोग में दोष कल्पना का निराकरण, अध्याय ८)

३— इसलिए सिद्ध होता है कि—

(१) सभा में अध्यात्म उपदेश देना, क्योंकि उससे अनेक जीवों को मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है।

(२) निम्न दशावालों को अध्यात्म उपदेश का स्वरूप भासित नहीं होता—ऐसा कहना योग्य नहीं है। जो-जो मोक्षमार्ग को प्राप्त हुए हैं, वे सभी पहले निम्नदशा में थे, और वहाँ अध्यात्म उपदेश सुनने से मोक्षमार्ग प्राप्त किया है, इसलिए निम्नदशावालों के लिए धोरी मार्ग (राजमार्ग) एक ही है कि उपदेशक को अध्यात्म शास्त्रों का उपदेश सुनाना चाहिए।

(३) अभ्यास करने से जीव को स्वरूप बराबर भासित होता है, इसलिए जीव समझ नहीं सकता—ऐसी मिथ्या कल्पना करना, यह तो मूर्खता प्रगट करने जैसा है, जो कि योग्य नहीं है।

(४) सम्यक्त्वादि प्राप्त करने की अपेक्षा से यह काल हीन नहीं है, इसलिए आत्मानुभवादि के लिए द्रव्यानुयोग का अभ्यास अवश्य करना चाहिए क्योंकि उससे संचारचक्र टूटकर अल्प भव में सम्पूर्ण पवित्रता (मोक्ष) जीव प्राप्त करता है।

(५) यदि इस मनुष्यभव में वह कार्य न किया तो जीव की त्रस (दो इन्द्रिया से पंचेन्द्रिय) अवस्था बहुत अल्प काल की है और एकेन्द्रिय अवस्था अत्यन्त दीर्घ काल की है, तो जीव मोक्षमार्ग कब प्राप्त करेगा? इसलिए वह (मोक्षमार्ग) इस मनुष्यभव में ही प्राप्त कर लेना चाहिए—वही आत्मा का कल्याण है।

४— सम्यग्दर्शन के बिना जीव की समस्त शुभाशुभ चैतन्य क्रिया बन्ध का कारण है, इससे वह 'करोतिक्रिया' है, उसके द्वारा कभी मोक्ष नहीं होता।

और कहा है कि—

नादंसणिस्स नाणं, नाणेन विना न होंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमुक्कस्स निव्वाणं॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन रहित पुरुष को सम्यग्ज्ञान नहीं होता; सम्यग्ज्ञान के बिना सम्यक्चारित्र का गुण नहीं होता; उस गुणरहित जीव को मोक्ष (पवित्रता) नहीं होता; जो भावकर्म से मुक्त न हुआ हो, उसे निर्वाण नहीं होता। ●

प्रकरण : ४

मोक्ष को कतरनेवाली क्रिया कौन सी है ?

१—मोक्षमार्ग की प्राप्ति के लिए अनन्त ज्ञानियों ने कौन सी क्रिया कही है, उसे जानने की आवश्यकता है। वह जाने बिना 'क्रिया' से मोक्ष होता है—ऐसा मान लेना, वह मिथ्यात्व है। ज्ञानी, ज्ञानक्रिया का निषेध ही नहीं करते—यह पहले कहा जा चुका है। ज्ञानियों का कथन न समझनेवाले जीव 'ज्ञानक्रिया' का अर्थ नहीं समझते; इसलिए 'मोक्ष को कतरनेवाली क्रिया क्या है' वह समझाकर भगवान की कही हुई यथार्थ क्रिया का बराबर स्थापन किया जाता है। ज्ञानियों ने मोक्ष को करनेवाली कौन सी क्रिया कही है, वह अब यहाँ कही जाती है—

२—इस विषय में शिष्य-गुरु के प्रश्नोत्तररूप काव्य कहते हैं।

कोऊ शिष्य कहै स्वामी! असुभ क्रिया असुद्ध,
सुभक्रिया सुद्ध तुम ऐसी क्यों न वरनी।
गुरु कहैं जबलौं क्रिया के परिनाम रहैं,
तबलौ चपल उपयोग जोग धरनी॥
थिरता न आवै तोलौं सुद्ध अनुभौ न होई,
याते दोउ क्रिया, मोख-पंथ की कतरनी।
बंध की करैया दोऊ, दुहू में न भली कोऊ,
बाधक विचारि, मैं निसिद्ध कीनी करनी॥१२॥

(समयसार नाटक, पुण्य-पाप एकत्व द्वार)

अर्थ—कोई शिष्य पूछता है कि हे स्वामी! आपने अशुभ क्रिया को अशुद्ध और शुभ क्रिया को शुद्ध क्यों नहीं कहा?

श्रीगुरु कहते हैं कि—जब तक क्रिया के परिणाम रहते हैं, तब तक उपयोग और योग चंचल रहते हैं और जब तक उपयोग स्व-

स्वरूप में स्थिर न हो, तब तक शुद्ध अनुभव नहीं होता; इसलिए यह शुभ-अशुभ दोनों क्रियाएँ मोक्षमार्ग को काटनेवाली हैं; दोनों बन्ध की क्रियाएँ हैं; दोनों में एक भी भली नहीं है, दोनों मोक्षमार्ग में बाधक हैं—ऐसा विचार कर मैंने उन दोनों क्रियाओं का निषेध किया है।

मोक्षमार्ग में क्रिया का निषेध

(दोहा)

करनी हित हरनी सदा, मुक्ति वितरनी नांहि।
गनी बंधपद्धति विषै, सनी महादुःखमांहि॥९६॥

(समयसार नाटक, सर्वविशुद्धि द्वार)

अर्थ—करनी सदा हित का नाश करनेवाली है, मुक्ति देनेवाली नहीं है; करनी बन्ध पद्धति में गिनी जाती है और वह महा दुःख से लिप्त है।

(शुभाशुभ चैतन्य क्रिया, मैं पर का कर सकता हूँ, हाथ-पैर शरीर चला सकता हूँ, पुण्य से मुझे लाभ होता है—इत्यादि भावों को यहाँ करनी कहा है।)

आत्मा की विकारी क्रिया का स्वरूप

(सवैया इकतीसा)

करनी की धरनी में महा मोह राजा बसै,
करनी अग्यान भाव राक्सि की पुरी है।
करनी करम काया पुग्गल की प्रतिछाया,
करनी प्रगट माया मिसरी की छुरी है॥
करनी के जल में उरझि रह्यो चिदानन्द,
करनी की वोट ग्यान भान दुति दुरी है।
आचारज कहै करनी सौं विवहारी जीव,
करनी सदैव निहचै सुरूप बुरी है॥९७॥

(समयसार नाटक, सर्वविशुद्धि द्वार)

अर्थ—क्रिया की भूमि में महामोह राजा वास करता है, क्रिया अज्ञानभावरूप राक्षस की नगरी है, क्रिया कर्म और शरीरादि पुद्गल की मूर्ति है, क्रिया साक्षात् मायारूप मिश्री लपेटी हुई छुरी है, क्रिया के जाल में चिदानन्द आत्मा फँस रहा है, क्रिया की आड़ में ज्ञानसूर्य का प्रकाश ढँक गया है; श्री आचार्यदेव कहते हैं कि:—क्रिया से जीव व्यवहारी (संसारी) है, यथार्थ स्वरूप से देखने पर क्रिया सदैव बुरी है। (यह आत्मा की बुरी क्रिया का स्वरूप है।)

मूढ़ क्रिया तथा विचिक्षण क्रिया का स्वरूप

(सवैया इकतीसा)

जैसें मतवारो कोऊ कहै और, करै और,
तैसें मूढ प्रानी विपरीतता धरतु है।
असुभ करम बंध कारन बखानै माने,
मुक्ति के हेतु सुभ-रीति आचरतु है॥
अंतर सुदृष्टि भई मूढ़ता बिसर गई,
ग्यान कौ उदोत भ्रम-तिमिर हरतु है।
करनी सौं भिन्न रहै आतम-सुरूप गहै,
अनुभौ अरंभि रस कौतुक करतु है॥१६॥

अर्थ—जैसे कोई शराबी (पागल) मनुष्य कहता कुछ है और करता कुछ है; उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव विपरीत भाव रखता है। वह अशुभ कर्म को बन्ध का कारण कहता है और मानता है, और शुभभाव को मोक्ष के कारणरूप से आचरण करता है, परन्तु जब सच्ची अन्तर्दृष्टि होती है, तब मूढ़ता (अज्ञान) नष्ट हो जाती है, ज्ञान का प्रकाश भ्रमणारूप अन्धकार का नाश करता है, करनी से भिन्न रहकर आत्मस्वरूप को ग्रहण करता है, और अनुभव धारण करके परम रस में आनन्द करता है॥१६॥

३—उपरोक्त कथन से सिद्ध होता है कि 'शुद्धात्म-अनुभव

क्रिया' के अतिरिक्त चैतन्य की सर्व क्रियाएँ अशुद्ध हैं, इसलिए वे मोक्ष की क्रियाएँ नहीं हैं, परन्तु वे क्रियाएँ मोक्ष को काटनेवाली हैं, उनका फल संसार है अर्थात् दुःख है और वह त्याज्य है—हेय है।

४—शरीर की क्रिया से जीव को मोक्ष या बन्ध नहीं हो सकता। शरीर परद्रव्य है, वह अनन्त परमाणुओं का स्थूल स्कन्ध है। प्रत्येक द्रव्य क्रियासम्पन्न है और स्वयं परिणामी है, जीव वह नहीं कर सकता; तथापि मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा मानता है कि मैं शरीर की क्रिया कर सकता हूँ; यह मान्यता मिथ्या होने से उसका निमित्त पाकर पुद्गल कार्माणवर्गणा स्वयं कर्मरूप परिणमित होती है। जब पुद्गल शरीर या परद्रव्य, जो अपने को अनुकूल लगे, वैसे परिणमित होते हैं, तब मिथ्या मान्यतावाला जीव हर्ष करता है, और अपने को प्रतिकूल लगे, वैसे परिणमित होते हैं, तब शोक करता है; वह दोनों राग-द्वेषरूप क्रिया है। शरीर या परद्रव्य में जीव को अनुकूलता या प्रतिकूलता कुछ है ही नहीं; मात्र अज्ञानी जीव वैसी कल्पना करता है, इस कारण वह बन्धभाव है, उसे कर्मभाव भी कहते हैं।

५—इस सम्बन्ध में श्री आत्मसिद्धि शास्त्र में कहा है कि—

कर्मभाव अज्ञान है, मोक्षभाव निजवास;
अंधकार अज्ञान सम, नाशे ज्ञानप्रकाश॥९८॥

अर्थ—मैं पर का कर सकता हूँ, यह भाव जीव का अज्ञान है, जीव का निज में (अपने में) वास (स्थिरता), वह मोक्षभाव है। अज्ञानभाव अन्धकार जैसा है, जिस प्रकार प्रकाश होने से अन्धकार का नाश होता है; उसी प्रकार ज्ञानप्रकाश होने से अज्ञान अन्धकार नाश को प्राप्त होता है॥९८॥

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि 'शुद्धात्मअनुभव क्रिया' के अतिरिक्त चैतन्य की सर्व क्रियाओं का फल संसार है। ●

प्रकरण : ५

सामायिक का स्वरूप समझे बिना की हुई सामायिक क्रिया का फल

१—तब प्रश्न उठता है कि, आत्मस्वरूप को जाने बिना, सामायिक का पाठ बोलकर जो सामायिक-क्रिया का करना मानते हैं, उसका क्या फल है ?

उत्तर—सामायिक तो राग-द्वेष रहित साम्यभाव होने से होती है, परन्तु पाठमात्र पढ़ने से या उठ-बैठ करने से तो सामायिक नहीं होता। कदाचित् कोई कहे कि 'अन्य कार्य करते, उसकी अपेक्षा तो अच्छा है ?' यह सत्य है, परन्तु सामायिक पाठ में प्रतिज्ञा तो ऐसे करता है कि 'मन, वचन, काय से सावद्य को करूँगा नहीं, कराऊँगा नहीं।' अब, मन में तो विकल्प होता ही रहता है तथा वचन, काया में भी कदाचित् अन्यथा प्रवृत्ति होती है, वहाँ प्रतिज्ञा भंग होती है। प्रतिज्ञा भंग करने की अपेक्षा तो न करना ही अच्छा है, क्योंकि प्रतिज्ञा भंग करना, यह महापाप है। *(मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ७ वाँ)*

२—दो मनुष्यों को लें, उनमें एक प्रतिज्ञा नहीं करता किन्तु अपनी मातृ भाषा में पाठ पढ़ता है और उसका अर्थ जानकर उसमें उपयोग रखता है; जबकि दूसरा मनुष्य प्रतिज्ञा करके उसे बराबर पालन नहीं करता, प्राकृतादि भाषा के पाठ बोलता है, परन्तु उनके अर्थ का उसे ज्ञान नहीं है और अर्थ जाने बिना उपयोग वहाँ नहीं रहता, वह अन्य स्थानों में भटकता है, इससे प्रतिज्ञा भंग होती है; अब इन दोनों मनुष्यों में धर्मात्मा कौन है ?

उत्तर—यदि पहले को धर्मात्मा कहोगे तो आप ऐसा ही उपदेश

क्यों नहीं करते ? और आप स्वयं वैसा क्यों नहीं करते ? यदि दूसरे को कहोगे तो प्रतिज्ञा भंग में पाप नहीं हुआ ? अथवा परिणाम अनुसार धर्मात्मापना सिद्ध नहीं हुआ परन्तु पाठ इत्यादि बोलने या सुनने के अनुसार धर्मीपना सिद्ध हुआ ?

३—**प्रश्न**—तब फिर हमें क्या करना चाहिए ?

उत्तर—आत्मा के स्वरूप को यथार्थ समझना चाहिए और जिस प्रकार अपना उपयोग निर्मल हो, वह करना; जो साधी जा सके, वह प्रतिज्ञा करना तथा जिसका अर्थ जानते हैं, वह पाठ पढ़ना; परन्तु पद्धति द्वारा (रूढिगतरूप से) सामायिक करके ऐसा 'नाम' रखाने में लाभ नहीं है। *(मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ७वाँ)*

४—अनन्त ज्ञानियों द्वारा कहा हुआ सामायिक व्रत तो सम्यग्दृष्टि होने के पश्चात ही होता है क्योंकि जो जीव आत्मा का स्वरूप यथार्थ नहीं जानता, उसे 'सच्चा अणुव्रत' होता ही नहीं; इसलिए प्रथम सम्यग्दृष्टिपना प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रकरण ९ के पहले पैरे में भी यह बताया गया है।

५—सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए प्रथम क्या करना चाहिए ? वह आगे कहा जाएगा। यहाँ तो सामायिक के विषय की बात कही है। जो जीव सामायिक का यथार्थ स्वरूप नहीं जानता, किन्तु उपरोक्तानुसार क्रिया करता है, वह 'धर्म' नहीं करता, तथापि आप 'धर्म' करता है—ऐसा मानता है, वह जीव मिथ्यात्व की पुष्टि करता है—ऐसा विचारवान जीव को ज्ञात हुए बिना नहीं रहेगा। अज्ञानी को व्यवहार धर्म भी नहीं होता किन्तु उसे 'व्यवहाराभास सामायिक' अथवा 'नाम सामायिक' या 'कुसामायिक' कही है। ●

प्रकरण : ६

सच्ची सामायिक क्रिया का स्वरूप

१—तब फिर सच्ची सामायिक क्रिया क्या है, उसका स्वरूप जानने की आवश्यकता है, इसलिए वह यहाँ कही जाती है:—

२—सामायिक के प्रकार तीन हैं। (१) निश्चय सामायिक, (२) व्यवहार सामायिक, (३) व्यवहाराभास सामायिक; उसमें से तीसरे प्रकार की सामायिक के सम्बन्ध में पहले के प्रकरण में कहा गया है; उसे 'नामसामायिक' भी कहा जा सकता है, इसलिए अब पहली दो सामायिकों के विषय में यहाँ विचार करते हैं।

३—'सामायिक' शब्द तीन पदों का बना हुआ है, वह इस प्रकार है:—सम+आय+इक।

सम = राग-द्वेष रहित साम्यभाव;

आय = लाभ; और

इक = वाला अर्थात् सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वार्थों के भावभासन सहित और विपरीत अभिप्राय तथा राग-द्वेषरहित साम्यभाव का जीव को लाभ होना। प्रकरण-५ में जो क्रिया कही गयी है, वह सामायिक क्रिया है। मोक्ष के कारणभूत जो सामायिक कही गयी है, उसका स्वरूप निम्न प्रकार है:—

जो सामायिक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभाववाला परमार्थभूत ज्ञान के भवन (परिणमन) मात्र है, वह मोक्ष के कारणभूत है।

४—ऊपर जो व्याख्या दी है, वह 'निश्चय सामायिक' है। पाँचवें गुणस्थान में प्रवर्तमान श्रावक जिस समय अपने शुद्धज्ञान में निर्विकल्परूप से स्थिर होता है, उस स्थिरता को अपने योग्य 'निश्चय

सामायिक' कहा जाता है। जिस समय वह श्रावक अपने शुद्धोपयोग में स्थिर नहीं रह सकता, उस समय अपना भाव अशुभ में न जाये, उसका विवेक रखता है और इससे उसका पुरुषार्थ राग-द्वेष तोड़ने की ओर जाता है, उसमें अशुभ दूर होता है और शुभ रह जाता है। श्रावक के व्रत में एक 'सामायिक व्रत' है, वह व्रत दो घड़ी अपने उपयोग में निर्मलता लाने का जो प्रयास करता है, वह है; वह शुभोपयोगरूप है। वह 'व्यवहार सामायिक' है क्योंकि वह निश्चय के लक्ष्यपूर्वक है। यह शुभोपयोग तो राग है और शुभराग भी आस्रव होने से बन्धक है, परन्तु उस समय राग और शुभोपयोग के निषेध की जो दृढ़ता है, उससे शुद्धि बढ़ती है, वह शुद्धि संवर और निर्जरारूप है। व्रत स्वयं संवर या निर्जरारूप नहीं है, वह तो धर्मी को भी आस्रव और पुण्य बन्धरूप है।

५—**प्रश्न**—कितने ही लोग हिंसादिक सावद्ययोग के त्याग को चारित्र मानते हैं, महाव्रतादिरूप शुभोपयोग को उपादेयपने से ग्रहणरूप मानते हैं तो वह सच्चा चारित्र है?

उत्तर—नहीं; (तत्त्वार्थसूत्र जो कि सर्व जैनों को मान्य है), उसमें आस्रव पदार्थ का निरूपण करते हुए महाव्रत-अणुव्रत को भी आस्रवरूप कहा है, तो वह उपादेय किस प्रकार होगा? आस्रव तो बन्ध का साधक है और चारित्र, मोक्ष का साधक है; इसलिए इन महाव्रतादिरूप आस्रवभावों को चारित्रपना सम्भव नहीं है, परन्तु सर्व कषायरहित उदासीनभाव है, उसी का नाम चारित्र है। चारित्रमोह के देशघाति स्पर्द्धकों के उदय से जो महामन्द प्रशस्तराग होता है, वह तो चारित्र का मल है; उसे नहीं छूटता जानकर उसका त्याग नहीं करते और सावद्ययोग का ही त्याग करते हैं; परन्तु जिस प्रकार कोई पुरुष कन्द-मूलादि अधिक दोषवाली हरितकाय का त्याग करता है, तथा कोई हरितकाय का भक्षण करता है, परन्तु हरितकाय के भक्षण

को वह धर्म नहीं मानता; उसी प्रकार मुनि या श्रावक हिंसादि तीव्र कषायरूप भावों का त्याग करते हैं तथा कोई मन्द कषायरूप महाव्रत-अणुव्रतादि को पालते हैं परन्तु वे मन्दकषायरूप व्रतादि को मोक्षमार्ग नहीं मानते। *(मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ७ पर आधारित)*

प्रश्न—सम्यग्दृष्टि मुनि या श्रावक को एक ही काल में ऐसा भाव होता है कि जिससे उन्हें संवर-निर्जरा भी होते हैं और बन्ध भी होता है, वह किस प्रकार है ?

उत्तर—यह भाव मिश्ररूप है, कुछ भाव वीतराग हुए हैं और कुछ सराग रहे हैं; वहाँ जो अंश वीतराग हुआ है तथा उसमें वृद्धि होती जाती है, उसके द्वारा तो संवर-निर्जरा ही है और जो अंश सराग रहा है, उसके द्वारा बन्ध है; अब, एक मिश्रभाव से दो कार्य तो होते हैं परन्तु एक प्रशस्तराग से ही पुण्यास्रव भी मानना और संवर-निर्जरा भी मानना—यह भ्रम है। मिश्रभाव में यह सरागता है और यह वीतरागता है—ऐसी पहिचान सम्यग्दृष्टि को ही होती है; इसलिए वह अवशेष सरागभाव को हेयरूप मानता है, परन्तु मिथ्यादृष्टि को ऐसी पहिचान नहीं है, इसलिए वह सरागभाव में संवर-निर्जरा के भ्रम से प्रशस्तरागरूप कार्यों को उपादेयरूप मानता है।

(मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ७ के आधार से)

प्रश्न—ऐसा है तो चारित्र के तेरह भेदों में इन महाव्रतादि को क्यों कहा है ?

उत्तर—वहाँ उसे व्यवहारचारित्र कहा है और व्यवहार नाम उपचार का है। यह महाव्रतादिक होते ही उस समय जो वीतरागता में पुरुषार्थ द्वारा वीतरागचारित्र होता है, वह उपचारसम्बन्ध जानकर इन महाव्रतादिक में चारित्र का उपचार किया है, परन्तु निश्चय से तो जितना निष्कषाय भाव हुआ है, वही सच्चा चारित्र है।

(मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ७ के आधार पर)

अणुव्रत हुए बिना देशचारित्र नहीं होता और महाव्रत धारण किये बिना कभी सकलचारित्र नहीं होता; इसलिए इन व्रतों को अन्वयरूप जानकर, कारण में कार्य का उपचार करके उसे चारित्र कहा है, परन्तु वह निश्चयचारित्र नहीं है।

(मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ७ के आधार से)

यदि निरतिचार महाव्रत को निश्चयचारित्र कहोगे तो वैसे मुनि को बन्ध कैसे हो ? बन्ध तो राग से ही होता है और सम्यग्दृष्टि मुनि को निरतिचार महाव्रत होने पर भी बन्ध होता है; इसलिए महाव्रत मन्दकषायरूप राग है—ऐसा सिद्ध होता है।

अज्ञानी के व्रतों को तो ज्ञानी व्रत कहते ही नहीं; उन्हें तो 'बालव्रत' अर्थात् अज्ञान-व्रत ही कहते हैं, क्योंकि व्रत तो पाँचवें गुणस्थान से ही प्राप्त होते हैं। अज्ञानी जन शुभभाव रखे तो उससे पुण्यबन्ध होता है परन्तु उससे संसार का नाश नहीं होता। ●

प्रकरण : ७

कुप्रतिक्रमण और सुप्रतिक्रमण का स्वरूप

१—बारहवें प्रकरण में कुसामायिक के लिए जो कहा गया है, वह यहाँ कुप्रतिक्रमण को लागू होता है और जो सच्ची सामायिक के लिए कहा है, वह सुप्रतिक्रमण को लागू होता है।

२—प्रतिक्रमण नाम पूर्व दोष के निराकरण करने का है। अब, 'मिच्छामि दुष्कृतं', इतना कहने मात्र से तो दुष्कृत मिथ्या नहीं होता, परन्तु मिथ्यात्व तथा अव्रत रहित आंशिक परिणाम होते ही 'दुष्कृत' मिथ्या होता है, इसलिए मात्र पाठ ही कार्यकारी नहीं है। और प्रतिक्रमण के पाठ में तो ऐसा अर्थ है कि बारह व्रतादि में जो दुष्कृत लगे हों, वे मिथ्या हो जायें, परन्तु व्रत धारण किये बिना ही उनका प्रतिक्रमण करना कैसे सम्भव है? जिसके उपवास न हो, वह उपवास में लगे हुए दोष का निराकरण करे तो वह असंभव जानना, इससे यह पाठ पढ़ना किसी प्रकार योग्य नहीं है।

(मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ७ के आधार से)

३—यह पाठ ही सिद्ध करता है कि जो सम्यग्दृष्टि हुआ हो और दो जाति के कषायों से रहित जिसने व्रत धारण किये हों और उनमें अतिचार लगा हो, उसी को लागू पड़ता है, किन्तु दूसरों को नहीं; क्योंकि उसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा व्रत के अतिचारों का प्रतिक्रमण आता है।

४—निश्चय प्रतिक्रमण का स्वरूप निम्नानुसार है:—

कर्म यत्पूर्वकृतं शुभाशुभमनेक विस्तर विशेषं।
तस्मान्निवर्तयत्यात्मानं तु यः स प्रतिक्रमणं॥३८३॥

शुभ वा अशुभ अनेकविध, पूर्वे किये जो कर्म वे।
उससे निवर्ते आत्म को, वो आतमा प्रतिक्रमण है॥३८३॥

(समयसार)

निश्चय से विचार करने से तो, जो आत्मा तीनों काल के कर्मों से अपने को भिन्न जानता है, श्रद्धा करता है और अनुभव करता है, वह आत्मा स्वयं ही प्रतिक्रमण है, स्वयं ही प्रत्याख्यान है और स्वयं ही आलोचना है। ऐसे प्रतिक्रमणस्वरूप, प्रत्याख्यानस्वरूप और आलोचनास्वरूप आत्मा का निरन्तर अनुभवन ही निश्चयचारित्र है। जो यह निश्चयचारित्र है, वही ज्ञानचेतना (ज्ञान का अनुभवन) है। उसी ज्ञानचेतना से (ज्ञान के अनुभवन से) साक्षात् ज्ञानचेतनास्वरूप केवलज्ञानमय आत्मा प्रगट होता है।

(समयसार, गाथा ३८५-३८६ का भावार्थ)

५—**प्रश्न**—यदि आप ऐसा कहोगे या प्ररूपण करोगे तो इस समय लोग जो सामायिक करते हैं, वह भी छोड़ देंगे?

उत्तर—यह कथन अन्यायी है। सत् प्ररूपणा से लोगों को लाभ होता है या असत् प्ररूपणा से? यह स्वरूप सुनेगा, उसे सच्चा समझने की रुचि होगी और अपने दोषों को दूर करेगा। फिर, इस समय होनेवाले सामायिक और प्रतिक्रमण का स्वरूप ऊपर दर्शाया है और यह बताता है कि वह सामायिक-प्रतिक्रमण है ही नहीं। सच्चा समझनेवाला पुण्य को छोड़कर पाप करेगा—ऐसा मानना भी अन्याय है; सच्चा समझने-वाला कभी पाप करेगा ही नहीं; क्योंकि वह तो अशुभभाव है। ज्ञानी तो पुण्य को भी छोड़कर पुण्य-पापरहित होगा, और वैसा न हो सके वहाँ तक वह पुण्य भाव में आयेगा, परन्तु उसे कभी धर्म नहीं मानेगा; और इसलिए वह छोड़ने योग्य भाव है—ऐसा वह समझेगा। इसलिए जब तक सम्यग्दृष्टि सम्पूर्ण वीतराग नहीं होगा, तब तक पाप छोड़कर पुण्यभाव में आयेगा और उससे सत्पुण्य बन्ध करेगा, परन्तु वह पुण्य आत्मा को लाभदायक है या आत्मा का स्वरूप है-ऐसा कभी नहीं मानेगा। ●

प्रकरण : ८
सच्चा प्रत्याख्यान क्या है ?

१— सच्चे प्रत्याख्यान का स्वरूप निम्नानुसार है:—

कर्म यच्छुभमशुभं यस्मिंश्च भावे बध्यते भविष्यत्।
तस्मात् निवर्तते यः स प्रत्याख्यानं भवति चेतयिता ॥३८४॥

शुभ अरु अशुभ भावी करम का बंध हो जिन भाव में।
उससे निवर्तन जो करे वो आतमा पच्चखाण है॥३८४॥

(समयसार)

अर्थ— भविष्य काल का जो शुभाशुभकर्म है, वह जिस भाव से बँधता है, उस भाव से जो आत्मा निवृत्त होता है, वह आत्मा प्रत्याख्यान है।

टीका—वही आत्मा, उन भावों के कार्यभूत उत्तर कर्म को (भविष्य काल के कर्म को) प्रत्याख्यान (-त्याग) करता हुआ प्रत्याख्यान है, वही आत्मा वर्तमान कर्म विपाक को अपने से अत्यन्त भेदपूर्वक अनुभव करता हुआ आलोचना है। उसी प्रकार वह आत्मा सदैव प्रत्याख्यान करता हुआ उत्तर कर्म के कारणरूप भावों से अत्यन्त निवृत्त होता हुआ वर्तमान कर्म विपाक को अपने से अत्यन्त भेदरूप जानता हुआ अपने में ही—ज्ञानस्वभाव में ही निरन्तर विचरण (आचरण) करता होने से चारित्र है (अर्थात् स्वयं ही चारित्रस्वरूप है) और चारित्रस्वरूप प्रवर्तमान होता हुआ अपने को-ज्ञानमात्र को चेतता (अनुभवता) होने से वह आत्मा आप ही ज्ञानचेतना है; ऐसा भाव (आशय) है।

२—जो ऊपर कहा है, वह निश्चयप्रत्याख्यान का स्वरूप है, वह सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् जो जीव सम्यक्चारित्र में स्थिर हो,

उसी को होता है; मिथ्यादृष्टि के कभी नहीं होता। यह अज्ञानी जीव सद्गुरु का उपदेश सुनकर प्रतिबुद्ध होता है और साक्षात् दृष्टा (देखनेवाला) ऐसा अपने को अपने से ही जानकर, श्रद्धान करके उसी का आचरण करने का इच्छुक होता हुआ जब पूछता है कि 'इस आत्मा को अन्य द्रव्यों का प्रत्याख्यान (त्याग) है, वह क्या है ?

तब आचार्य उसे निम्नानुसार कहते हैं:—

सव्वे भावे जह्मा पच्चक्खाई परेत्तिणादूणं।
तह्मा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं॥३४॥

सब भाव को पर जानकर पच्चखाण भावों का करे,
उससे नियम से जाणना कि-ज्ञान प्रत्याख्यान है॥३४॥

अर्थ—जिससे 'अपने से अतिरिक्त सव पदार्थ पर हैं' ऐसा जानकर प्रत्याख्यान करता है-त्याग करता है; उससे प्रत्याख्यान ज्ञान ही है—ऐसा नियम से जानना चाहिए। अपने ज्ञान में त्यागरूप अवस्था ही प्रत्याख्यान है, दूसरा कुछ नहीं।

टीका—यह भगवान ज्ञाता द्रव्य (आत्मा) है, वह अन्य द्रव्य के स्वभाव से होनेवाले अन्य समस्त परभावों को, वे अपने स्वभाव द्वारा व्याप्त न होने से, उन्हें पररूप जानकर त्यागता है; इससे जो पहले जानता है, वही त्यागता है, दूसरा तो कोई त्याग करनेवाला नहीं है—ऐसा आत्मा में निश्चय करके, प्रत्याख्यान के (-त्यागके) समय प्रत्याख्यान करने योग्य जो परभाव हैं, उनकी उपाधिमात्र से प्रवर्तित हुए त्याग के कर्तृत्व का नाम (आत्मा को) होने पर भी, परमार्थ से देखा जाये तो परभाव के त्याग-कर्तापने का नाम अपने को नहीं है, आप तो इस नाम से रहित है, क्योंकि आप ज्ञानस्वभाव से छूटा हुआ नहीं है, इसलिए प्रत्याख्यान ज्ञान ही है-ऐसा अनुभव करना चाहिए।

भावार्थ—आत्मा को परभावों के त्याग का कर्तृत्व है, वह नाममात्र है, आप तो ज्ञानस्वभाव है। परद्रव्य को पर जाना, पश्चात्

परभावों का ग्रहण नहीं, वही त्याग है। इस प्रकार, स्थिर हुआ ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, ज्ञान के अतिरिक्त कोई दूसरा भाव नहीं।

(समयसार गाथा ३४)

३—आत्मा जब अपने ज्ञान में तन्मय होता है, तब उसका परवस्तु की ओर लक्ष्य जाता ही नहीं; इससे ज्ञान की स्थिरता को और परवस्तु को ऐसा निमित्त-नैमित्तिक भाव है कि जिस परवस्तु का राग ज्ञानी के टूट गया, उस वस्तु का संयोग स्वयं दूर हो जाता है। ऐसा भाव ही यथार्थ प्रत्याख्यान है, इसलिए जहाँ ऐसा भाव हो, वहाँ परवस्तु का संयोग जो नहीं होता, उसे व्यवहार भाषा में परवस्तु का त्याग कहा जाता है। वास्तव में परवस्तु कहीं आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो गयी है कि उसका त्याग हो सके, परन्तु परवस्तु के ऊपर का राग और अवलम्बन जब जीव तोड़ता है, तब परवस्तु का संयोग सहज ही रुक जाता है।

४—जीव के शुद्ध अवस्था में पर की ओर का राग दूर हो जाने से उसका संयोग सहज ही रुक जाता है और अशुद्ध अवस्था में परवस्तु के प्रति राग-द्वेष होने से उसका संयोग अधिकांश रहता है; ऐसा वस्तुओं का एक दूसरे के साथ सहज सम्बन्ध है। वास्तव में आत्मा अपनी शुद्ध या अशुद्ध अवस्था में परवस्तु का ग्रहण या त्याग नहीं कर सकता; यह नियम श्री समयसार में निम्नानुसार दिया है:—

ण वि सक्कइ घित्तुं जं ण विमोत्तुं जं य जं परद्दववं,
सो को वि य तस्स गुणो पाउगिओ विस्ससो वा वि ॥४०६ ॥

जो द्रव्य है पर, ग्रहण नहिं, नहिं त्याग उसका हो सके।
ऐसा हि उसका गुण कोई प्रायोगि अरु वैस्त्रसिक है ॥४०६ ॥

अर्थ—जो परद्रव्य है, उसे ग्रहण नहीं किया जा सकता और न उसका त्याग ही किया जा सकता है—ऐसा ही कोई उसका (आत्मा का) प्रायोगिक और वैस्त्रसिक गुण है।

टीका—ज्ञान, परद्रव्य को किंचित् भी ग्रहण नहीं करता और

छोड़ता नहीं है; क्योंकि प्रायोगिक (परनिमित्त से हुए) गुण के सामर्थ्य से और वैस्रसिक (स्वाभाविक) गुण के सामर्थ्य से ज्ञान द्वारा परद्रव्य का ग्रहण करना और छोड़ना अशक्य है। (यहाँ 'ज्ञान' कहने से आत्मा समझना चाहिए।) *(समयसार, गाथा-४०६)*

५—सम्यग्दृष्टि को प्रत्याख्यान का विकल्प आता है, अर्थात् जब वह शुद्धोपयोग में न हो, तब प्रत्याख्यान (त्याग) का विकल्प आता है, उस विकल्प को द्रव्य-प्रत्याख्यान अथवा व्यवहार प्रत्याख्यान कहा जाता है। उस विकल्प से बन्ध होता है क्योंकि वह राग है। उस विकल्प के पीछे विकल्प के स्वामित्व के अस्वीकार की दृढ़तापूर्वक (पुरुषार्थ द्वारा) जितना राग दूर होता है, वह संवर-निर्जरा का कारण है और उसे निश्चय-प्रत्याख्यान कहा जा सकता है। मिथ्यादृष्टि तो ऐसा मानता है कि परवस्तु को मैं ग्रहण कर सकता हूँ और मैं त्याग सकता हूँ; वह मिथ्यादर्शन है और उसका फल पाप का बन्ध है। उस मिथ्यामान्यतापूर्वक परवस्तु को त्यागने का जो विकल्प करता है, उस समय यदि वह मन्दकषाय करे तो उसे समस्त घातिकर्मों के उपरान्त अघातिकर्मों में पुण्य का बन्ध होता है, परन्तु उससे उसके संसार का अन्त नहीं होता। इस कारण उसके उस प्रत्याख्यानभाव को दु:प्रत्याख्यान कहा जाता है, उसे यथार्थ प्रत्याख्यान नहीं होता। जो जीव ऐसी मन्दकषायपूर्वक परवस्तु को छोड़ने का विकल्प भी नहीं करता, वह तो अशुभभाव करता होने से समस्त घातिकर्म (जो कि पाप है) उसके उपरान्तु अघातिकर्मों में भी पाप का बन्ध करता है। सम्यग्दृष्टिपना होने से चौथे गुणस्थान से शुद्धोपयोग की कणिका जागृत होती है, इससे जितने अंश में शुद्ध उपयोग होता है, उतने अंश में घाति और अघाति कर्म नहीं बँधते और वह शुद्धोपयोग की कणिका बढ़ते-बढ़ते जब पूर्णता होती है, तब केवलज्ञान होता है और अन्त में आत्म प्रदेशों के कम्पन से होनेवाला आस्रव भी रुकने पर वर्तमान दशा में साक्षात् सम्पूर्ण सिद्ध परमात्मा हो जाता है। ●

प्रकरण : ९
सच्चा (सम्यक्-सत्) तप क्या है ?

१—निर्मल निज निश्चय परमात्मद्रव्य के आलम्बन के बल द्वारा शुभाशुभभावों को रोकना अर्थात् शुभाशुभ इच्छाओं को रोकना, वह तप है और उस तप के द्वारा निर्जरा होती है।

२—स्वरूपस्थिरता के प्रकाश से ज्ञान का तपन (दैदीप्यमान होना), वह तप है।

(१) **'इच्छा निरोधस्तपः'** *(देखो, मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ७)*

(२) **'स्वरूपविश्रांतनिस्तरंगचैतन्यप्रतपनात् तपः'**

(प्रवचनसार, गाथा १४ की संस्कृत टीका)

२—(शास्त्र में बारह प्रकार के तप कहे हैं, वे निमित्त अथवा विकल्प की अपेक्षा से कहे हैं), वह कहीं स्वयं तप नहीं हैं। धर्मबुद्धि से उपवासादि तो करे परन्तु वहाँ उपयोग तो शुभ-अशुभ या शुद्धरूप जैसा परिणमित हो, वैसा ही परिणमे। उसमें यदि शुद्धरूप परिणमित हो तो तप कहलाता है और निर्जरा होती है। बहुत उपवासादि करने से अधिक निर्जरा होती है और थोड़े करने से कम निर्जरा होती है—ऐसा ही यदि नियम सिद्ध हो तो निर्जरा का मुख्य कारण उपवासादि ही सिद्ध हो, परन्तु ऐसा तो नहीं होता; कारण कि परिणाम दुष्ट होने पर उपवासादि करने पर भी निर्जरा का होना कैसे सम्भव है ? यहाँ पर यदि ऐसा कहोगे कि 'जैसा अशुभ-शुभ या शुद्धरूप उपयोग परिणमित हो, उसी के अनुसार बन्ध-निर्जरा है' तो उपवासादि तप, निर्जरा का मुख्य कारण कहाँ रहा ? वहाँ तो अशुभ-शुभ परिणाम बन्ध के कारण और शुद्ध परिणाम निर्जरा का कारण सिद्ध हुए।

(मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ७ के आधार से)

३-**प्रश्न**—कोई कहे कि 'आप ऐसा कहोगे तो हम उपवासादि नहीं करेंगे!'

उत्तर—उपदेश तो ऊपर चढ़ने के लिये दिया जाता है, परन्तु तू उल्टा नीचे गिरे तो वहाँ कोई क्या करे? वह तो तेरा ही दोष है। यदि तू मानादिक से उपवासादिक करता है, तो कर-अथवा न कर, उससे कहीं सिद्धि नहीं है, परन्तु यदि (स्वसन्मुखता सहित) धर्मबुद्धि से आहारादिक का अनुराग छोड़ता है तो जितना राग दूर हुआ, उतना ही हुआ, किन्तु उसी को तप जानकर-उससे निर्जरा मानकर सन्तुष्ट न हो। *(मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ७ के आधार से)*

४—अन्तरंग तपों में भी प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, त्याग और ध्यानरूप क्रिया में बाह्य प्रवर्तन है, वह तो बाह्य तपवत् ही जानना चाहिए; जैसी अनशनादि बाह्य क्रियाएँ हैं, वैसी यह भी बाह्य क्रियाएँ हैं; इससे प्रायश्चित्तादि बाह्य साधन भी अन्तरंग तप नहीं हैं। परन्तु ऐसा बाह्य प्रवर्तन होते सम्यग्दृष्टि को जो अन्तरंग परिणामों की शुद्धता होती है, उसका नाम अन्तरंग तप जानना, और वहाँ तो निर्जरा ही है, बन्ध नहीं होता। और यदि शुद्धता का अल्प भी अंश रहे तो जितनी शुद्धता हुई, उससे तो निर्जरा है तथा जितना शुभभाव है, उससे तो बन्ध है और जहाँ ऐसा मिश्रभाव युगपत् होता है, वहाँ बन्ध और निर्जरा दोनों होते हैं।

(मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ७ के आधार से)

५—इस प्रकरण के पैरा नं० १ में जो तप कहा है, वह ऊपर कहे अनुसार हो, तभी सच्चा तप है। अज्ञानी का तप बालतप कहा गया है और बालतप से कभी निर्जरा नहीं है और इसलिए वह धर्म नहीं है। अनशनादि क्रिया को उपचार से तप संज्ञा कही है, ऐसा जानना और इसीलिए उसे व्यवहार तप कहा है। व्यवहार और उपचार का एक ही अर्थ है और ऐसे साधन से ऐसी ही वीतरागभावरूप विशुद्धता

हो, वही सच्चा तप निर्जरा का कारण जानना। अनशनादि और प्रायश्चित्तादि को तप कहा है, उसका कारण अनशनादि साधन से प्रायश्चित्त प्रवर्तमान हो तो वीतरागभावरूप सत्य तप का पोषण हो सकता है, इससे उन अनशनादि को और प्रायश्चित्तादि को उपचार से तप कहा है परन्तु कोई वीतरागभावरूप तप को न जाने और उसी को (शुभ प्रायश्चित्तादि को) तप जानकर संग्रह करे तो वह संसार में ही भ्रमण करता है।

इतना समझ लेना चाहिए कि निश्चय धर्म तो वीतरागभाव है तथा अन्य नाना प्रकार के भेद, बाह्य साधन की अपेक्षा से उपचार से कहे हैं, उसे व्यवहारमात्र धर्म संज्ञा जानना। इस रहस्य को जो नहीं जानता, उसे निर्जरा का भी सच्चा श्रद्धान नहीं है। ●

(मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ७ के आधार से)

प्रकरण : १०
सच्ची (सम्यक्) गुप्ति-समिति क्या है ?

१—मन, वचन, काया की बाह्य चेष्टा को मिटाये, पाप चिन्तवन न करे, मौन धारण करे तथा गमन आदि न करे, उसे मिथ्यादृष्टि गुप्ति मानते हैं। मन में तो भक्ति आदिरूप प्रशस्त रागादि, नाना प्रकार के विकल्प होते हैं और वचन-काया की चेष्टा को रोक रखता है, परन्तु यह तो शुभ प्रवृत्ति है; प्रवृत्ति में गुप्तिपना नहीं बन सकता।

२—अंशतः वीतरागभाव होने से जहाँ मन, वचन, काया की चेष्टा न हो, वही सच्ची गुप्ति है।

३—पर जीवों की रक्षा के लिये, यत्नाचार प्रवृत्ति को मिथ्यादृष्टि समिति मानते हैं, परन्तु हिंसा के परिणामों से पाप होता है तथा रक्षा के परिणामों से संवर कहोगे तो पुण्यबन्ध का कारण कौन सिद्ध होगा ? एषणासमिति में दोष दूर करते हैं, वहाँ रक्षा का प्रयोजन नहीं है; इसलिए रक्षा के अर्थ से ही समिति नहीं है।

४—**प्रश्न**—तो समिति किस प्रकार है ?

उत्तर—मुनि को किंचित् राग होने से गमनादि क्रिया होती है, वहाँ उन क्रियाओं में अति आसक्ति के अभाव से प्रमादरूप प्रवृत्ति नहीं होती, तथा दूसरे जीवों को दुःखी करके अपने गमनादि प्रयोजन नहीं साधते, इससे उनसे स्वयं दया का पालन होता है; इस प्रकार सच्ची समिति है। *(मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ७)*

५—सम्यक् (सत्) गुप्ति और सम्यक् (सत्) समिति का स्वरूप उपरोक्तानुसार जानना। ●

प्रकरण : ११
धर्म, अनुप्रेक्षा और परिषहजय का स्वरूप क्या है ?

धर्म—

१—मिथ्यादृष्टि बन्धादिक के भय से और स्वर्ग-मोक्ष की इच्छा से क्रोधादि नहीं करता, परन्तु वहाँ क्रोधादि करने का अभिप्राय तो दूर नहीं हुआ है। जिस प्रकार कोई राजादि के भय से अथवा महन्तपने के लोभ से परस्त्री का सेवन नहीं करता, तो उसे त्यागी नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार यह भी क्रोधादि का त्यागी नहीं है।

२—**प्रश्नः**—तो त्यागी किस प्रकार होता है ?

उत्तरः—पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित होने से क्रोधादि होते हैं; जब तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई इष्ट-अनिष्ट भासित न हो, तब स्वयं क्रोधादिक उत्पन्न नहीं होते और तभी सच्चा धर्म होता है।

अनुप्रेक्षा—

३—अनित्यादि के चिन्तवन से शरीरादि को बुरा जानकर, हितकारी न जानकर उनसे उदास होना, उसका नाम मिथ्यादृष्टि अनुप्रेक्षा कहते हैं। परन्तु यह तो, जिस प्रकार पहले कोई मित्र था, तब उससे राग था और फिर उसके अवगुण देखकर उदासीन हो गया; वैसे ही पहले शरीरादि से राग था परन्तु फिर उनके अनित्यादि अवगुणों को देखकर उदासीन हो गया, परन्तु ऐसी उदासीनता तो द्वेषरूप है; जहाँ जैसा अपना अथवा शरीरादि का स्वभाव है, वैसा जानकर, भ्रम छोड़कर उन्हें भला जानकर राग न करना और बुरा जानकर द्वेष न करना—ऐसी सच्ची उदासीनता के प्रयोजन से अनित्यादि का यथार्थ चिन्तवन करना ही सच्ची अनुप्रेक्षा है।

परिषहजय—

४—क्षुधादिक लगने पर उनके नाश का उपाय न करना, उसे मिथ्यादृष्टि परिषह-सहनता कहते हैं। उपाय तो नहीं किया और अन्तरंग में क्षुधादि अनिष्ट सामग्री मिलने से दु:खी हुआ तथा रति आदि का कारण मिलने से सुखी हुआ, यह तो दु:ख-सुखरूप परिणाम हैं और वही आर्त-रौद्रध्यान है, ऐसे भावों से संवर किस प्रकार हो ?

५—**प्रश्न**—फिर कैसे भावों से संवर होगा ?

उत्तर—दु:ख के कारण मिलने से दु:खी न हो तथा सुख के कारण मिलने से सुखी न हो, परन्तु ज्ञेयरूप से उनका ज्ञाता ही रहे—यही सच्चा परिषहजय है। ● *(मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ७)*

प्रकरण : १२
भक्ति का स्वरूप

१—कोई जीव भक्ति को मोक्ष का कारण जानकर उसमें अति अनुरागी होकर प्रवर्तन करता है, परन्तु वह तो दूसरों की भाँति भक्ति से मुक्ति मानता है, वैसा ही इसका भी श्रद्धान हुआ। भक्ति तो रागरूप है और राग से बन्ध है, इसलिए यह मोक्ष का कारण नहीं है। राग का उदय आने से जो भक्ति न करे तो पापानुराग हो, इसलिए अशुभराग छोड़ने के प्रयोजन से ज्ञानी भक्ति में प्रवर्तन करता है और मोक्षमार्ग में बाह्य निमित्तमात्र भी जानता है, परन्तु वहीं उपादेयता मानकर सन्तुष्ट नहीं होता, किन्तु शुद्धोपयोग का उद्यमी रहता है।

२—श्री पंचास्तिकाय की गाथा १३६ की टीका में कहा है कि:—

'अयं हि स्थूललक्ष्यतया केवल भक्तिप्राधान्यस्याऽज्ञानिनो भवति। उपरितनभूमि-कायामलब्धास्पदस्यास्थानराग निषेधार्थं तीव्रराग-ज्वरविनादार्थं वा कदाचिज्ज्ञानिनोऽपि भवतीति।'

अर्थ—इसी प्रकार स्थूल लक्ष्य से यह भक्ति केवल भक्ति प्रधान अज्ञानी जीवों के ही होती है; उपरोक्त भूमिका प्राप्त न हो, तब तीव्र राग-ज्वर मिटाने के लिये अथवा अस्थान का राग निषेध करने के लिये कदाचित् ज्ञानी के होती है।

३—**प्रश्नः**—यदि ऐसा है, तो ज्ञानी की अपेक्षा अज्ञानी को भक्ति की विशेषता होती होगी?

उत्तरः—यथार्थता की अपेक्षा से तो ज्ञानी के ही सच्ची भक्ति है, अज्ञानी के नहीं; तथा रागभाव की अपेक्षा से भक्ति को मुक्ति का

कारण जानने से अज्ञानी की श्रद्धा में अति अनुराग है, परन्तु ज्ञानी की श्रद्धा में उसे शुभबन्ध का कारण जानने से वैसा अनुराग नहीं है। बाह्य से तो ज्ञानी को कदाचित् अति अनुराग होता है तो अज्ञानी को भी होता है—ऐसा जानना चाहिये। *(मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ७)*

४:—भक्ति का अर्थ गुणानुराग; इससे वह भी अनुराग है। यद्यपि गुणों के विकास को (वह) बाधक है, तथापि उसका स्मारक होने से निम्न दशा होती है, परन्तु सम्यग्ज्ञानी उसे श्रद्धा में अनुपादेय ही समझते हैं।

शुभभावरूप भक्ति प्रशस्तराग है। प्रशस्तराग का विषय अगले प्रकरण में है, उसमें जो-जो कहा है, वह भक्ति को भी लागू पड़ता है—ऐसा समझना चाहिए। (राग कहीं प्रशस्त नहीं है किन्तु जिसका विषय प्रशस्त=वीतराग देव-शास्त्र-गुरु है, इस अपेक्षा ऐसा कहा है।)

५:—आत्मा को, अपना स्वरूप समझकर, अपने स्वरूप में एकाग्र होना, वह 'निश्चय' (यथार्थ) भक्ति है। जब ऐसी वस्तु मर्यादा है, तब पर से उपदेश की वांछा रखना सर्वथा अनुचित है; पर में पर बुद्धि की, उससे कल्याण होने की भावना को छोड़ो। इस विश्वास को छोड़े बिना श्रेयमार्ग का पथिक होना कठिन है। जिस प्रकार संसार को उत्पन्न करने में हम समर्थ हैं, उसी प्रकार मोक्ष उत्पन्न करने में भी हम स्वतः ही समर्थ हैं, जैसे कि:—

नयत्यात्मानमात्मैव जन्मनिर्वाणमेव च।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः ॥७५॥

(समाधि-शतक)

आत्मा ही आत्मा को संसार और निर्वाण में ले जाता है, इसलिए परमार्थ से आत्मा का गुरु आत्मा ही है, दूसरा नहीं। परन्तु ऐसा कथन सुनकर कोई भाई ऐसी अन्यथा कल्पना करता है, जो भक्तिमार्ग से विरोधी उपदेश है; उनसे हमारी मध्यस्थता है। ●

प्रकरण : १३
प्रशस्तराग - दान, शील, तप, भाव

१—**प्रश्नः**—हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रहादि द्वेष-परिणति होने से पाप बन्ध होता है। अन्य जीव को जीवित रखने का अथवा सुखी करने का अध्यवसाय, तथा सत्यादि पुण्य-बन्ध के कारण हैं, तब फिर जीव अबन्ध कैसे हो?

उत्तरः—जहाँ वीतराग होकर ज्ञाता-दृष्टारूप प्रवर्तन करे, वहीं निर्बन्धता है, इसलिए (मुमुक्षु जीव को) निर्बन्धता उपादेय है।

प्रश्नः—ऐसी दशा न हो, वहाँ तक कैसे वर्तना?

उत्तरः—ऐसी दशा न हो, वहाँ तक प्रशस्तरागरूप प्रवर्तन करो; परन्तु श्रद्धान तो ऐसा रखो कि—वह भी बन्ध का कारण है, हेय है। यदि श्रद्धा में उसे मोक्षमार्ग समझे तो वह मिथ्यादृष्टि ही है।

२—कितने ही लोग पाप के कारण रागादि को तो हेय जानकर छोड़ते हैं, परन्तु पुण्य के कारण प्रशस्तराग को उपादेय मानते हैं और उसे बढ़ाने का प्रयत्न भी करते हैं। प्रशस्तराग भी कषाय है। कषाय को उपादेय माना, तब उसे कषाय करने का ही श्रद्धान रहा; किसी भी परद्रव्य में साम्यभावरूप अभिप्राय नहीं हुआ।

३—**प्रश्नः**—तो सम्यग्दृष्टि भी प्रशस्तराग का उपाय रखता है, वह क्या?

उत्तरः—जिस प्रकार किसी का भारी दण्ड होता था, वह अब थोड़ा दण्ड देने का उपाय रखता है और थोड़ा दण्ड देकर हर्ष भी मानता है, परन्तु श्रद्धा में तो दण्ड देना अनिष्ट ही मानता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि को पापरूप भारी कषाय होती थी, वह अब पुण्यरूप

अल्प कषाय करने का उपाय रखता है तथा अल्प कषाय होने से हर्ष भी मानता है, परन्तु श्रद्धा में तो कषाय को हेयरूप ही मानता है। इस प्रकार प्रशस्तराग के उपाय में और उसके हर्ष में समानता है, तथापि सम्यग्दृष्टि को तो दण्ड समान और मिथ्यादृष्टि को व्यापार समान श्रद्धान होता है; इसलिए इन दोनों के अभिप्राय में अन्तर हुआ।

(मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ७)

४—गृहस्थ के कर्तव्यरूप षट् आवश्यक निम्न प्रकार हैं:—

देवपूजा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः
दानश्चेति गृहस्थानां षटकर्माणि दिने दिने॥७॥

(पद्मनन्दिपंचविंशतिका, श्रावकाचार)

अर्थः—जिनेन्द्रदेव की पूजा, निर्ग्रन्थ गुरु की सेवा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान श्रावकों को प्रतिदिन करना योग्य है।

सम्यग्दृष्टि श्रावक सम्पूर्ण वीतरागी नहीं है, इसलिए उसका पुरुषार्थ अशुभभाव टालकर शुभभावों की ओर जाता है, वह शुभभावना ऐसे छह प्रकार की है। इस प्रशस्तराग के उपाय का वह सेवन करता है, तथापि वह अल्प कषाय भी दण्ड समान मानता है। यथार्थ समझवाले को इस प्रकार के भाव होते हैं अर्थात् उसका अभिप्राय उपरोक्त पैरा नं० ३ के अनुसार होता है। जब जीव के स्वरूप को यथार्थतया न जाननेवाला जीव वैसे भाव करता है, उसे 'व्यापार समान' मानता है, अर्थात् वह प्रशस्तराग को सच्चा धर्म मानता है, परन्तु वह सच्चा धर्म नहीं है; सच्चा धर्म तो वीतराग भाव है। चौथे गुणस्थान में अंशतः वीतराग भाव होते हैं और बारहवें गुणस्थान में पूर्ण वीतरागता होने से जीव को केवलज्ञान प्रगट होता है। केवलज्ञान प्रगट होने की भूमिका को तेरहवाँ गुणस्थान कहते हैं।

इन छह भावों को संक्षेप में चार नामों से बताया जाता है और उनके नाम हैं—दान, शील, तप और भाव।

५—दान का स्वरूप निम्नानुसार है:—

सत्य दान तो लोभ का त्याग है और वह चारित्र का अंश है। मूर्च्छा की निवृत्ति ही चारित्र है। अपने को द्रव्यत्याग में पुण्य बन्ध की ओर दृष्टि नहीं देना चाहिए; परन्तु परवस्तु पर जो ममत्व रहा हुआ है, उसे छोड़ने से जो शुद्धोपयोग की वृद्धि होती है, उसे दान समझना चाहिए।

धन के त्याग से दान नहीं होता, क्योंकि वह परपदार्थ है, उसमें जो ममत्वबुद्धि दूर हुई, उसका नाम त्याग है। दान तो मिथ्यादृष्टि भी करता है परन्तु जिस त्याग को मोक्षमार्ग में महत्व दिया है, वह तो सम्यग्ज्ञानी के ही होता है।

जप, तप,संयम, शील, व्रत के सम्बन्ध में प्रथम लिखा जा चुका है, परन्तु यहाँ विशेष निम्नानुसार बतलाया जाता है:—

जीव के मूल में अन्तर शत्रु जो जीवादि तत्त्वों में मिथ्या अभिप्राय और पश्चात् शत्रु विषय-कषाय। सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन के द्वारा उनकी विजय करे, विषय-कषायें पश्चात् ही मिट सकती हैं।

मात्र शुभोपयोग के अर्थ से व्रतादि करने की मुख्यता न होने दो। स्वाध्याय का फल भेदज्ञान, और व्रतादि क्रिया का फल निवृत्तिरूप हो, वैसे प्रयत्न की आवश्यकता है। मात्र पर की रक्षा करने से दया नहीं होती, परन्तु प्रथम महापाप जो मिथ्यात्व, उससे अपनी रक्षा सम्यक्त्व द्वारा ही होती है; पश्चात् विशेष पुरुषार्थ द्वारा देशविरती बनने से अशुभ परिणामों से अपनी रक्षा करना, वह व्यवहार दया है और उसी समय आंशिक स्वसन्मुखता द्वारा अपने परिणामों की शुद्धता है, वह निश्चय दया है—ऐसा जानना चाहिए।

इतना लक्ष्य में रखना कि—अशुभभाव की अपेक्षा शुभभाव अल्प दोषवाले हैं, इसलिए पाप की अपेक्षा से उनका निषेध नहीं है;

परन्तु उनके द्वारा संसार का दुःखचक्र दूर नहीं होता; इसलिए मोक्ष (पूर्ण पवित्रता) की अपेक्षा से उनका निषेध है। शुभ छोड़कर अशुभ करना—ऐसा उपदेश हो ही नहीं सकता।

जीव को तत्त्वविचार में रुककर तत्त्व का ज्ञाता होने की आवश्यकता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि जहाँ अपने से शुद्धभाव न हो सकता हो, वहाँ पुण्य छोड़कर पाप में जाना; निंबोली कड़वी है, इसलिए छोड़ना चाहिए—ऐसा कहा जाये तो उसका अर्थ यह नहीं है कि कालकूट विष खाना चाहिए। पाप तो कालकूट विष है; इसलिए वह तो सबको छोड़ना चाहिए। यह उपदेश तो जगत के लोग भी करते हैं, उसके लिए शास्त्रों की आवश्यकता नहीं है, परन्तु पुण्य की रुचि और पुण्य क्या है, उससे लाभ है या नहीं, वह समझाने के लिए शास्त्र रचे गये हैं, क्योंकि उसे धर्म मानते हैं, जबकि ज्ञानी अपने ज्ञान में समस्त शुभाशुभभाव को अशुद्ध और वीतरागधर्म के विरुद्ध ही जानता है। ●

प्रकरण : १४
देह-दमन-इन्द्रिय निग्रह और शारीरिक क्रिया का स्वरूप

१—देह और इन्द्रियाँ पुद्गलद्रव्य हैं और जीव चैतन्यद्रव्य है, इसलिए दोनों द्रव्य भिन्न हैं। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य पर कोई अधिकार नहीं चल सकता। जीव जब तक अपना यथार्थ स्वरूप न समझे, वहाँ तक वह समझता है कि अपना अधिकार शरीर पर चलता है; वास्तव में तो शरीर की कोई क्रिया जीव को लाभदायक या हानिकारक नहीं है। जीव की पवित्रता, लाभदायक और अपवित्रता, हानिकारक है।

२—जीव, देह में रहता है, वह व्यवहार वचन है अर्थात् वह लोक-प्रसिद्ध भाषा है। वास्तव में जीव, जीव में रहता है और देह, देह में रहती है। जीव जब भेदविज्ञान करता है, तब यह स्वरूप बराबर समझ लेता है; जब तक भेदविज्ञान न हो, तब तक वह ऐसा मानता रहता है कि जीव, शरीर को चलाता है अथवा शरीर, जीव को चलाता है, (जैसे दंडा बेड़ी आदि में)। जीव और देह-दोनों वास्तव में तो अपने-अपने क्षेत्र में रहते हैं। प्रत्येक के स्वचतुष्टय भिन्न-भिन्न हैं, वे आकाशक्षेत्र में एक क्षेत्रावगाहरूप से रहते हैं, परन्तु इससे वे भाव से एक नहीं हो जाते। जीव का और शरीर का एक सहज निमित्त -नैमित्तिक सम्बन्ध ऐसा है कि जीव इच्छा करे और शरीर उस समय चलने योग्य हो तो चलता है। कई बार ऐसा बनता है, उससे जीव मान लेता है कि मैं चलाता हूँ। यदि जीव में उसे चलाने की शक्ति हो तो जब-जब वह चलाने की इच्छा करे, तब-तब चला सकता है, अथवा रोकने की इच्छा करे तब रोक सकता है। परन्तु यदि बचपन हो, शरीर में वात रोग हो, कँपकँपी हो, भूकम्प हो, पक्षघात हो,

जरावस्था आये, रोग हो, लोहू निकले, तब जीव की इच्छा और शरीर की क्रिया एक-दूसरे से विरुद्ध होते हैं। जीव की इच्छा हो और वैसे पुण्य के उदय का योग हो, तब जीव की इच्छा के अनुकूल शरीर की क्रिया स्वयं होती है। यह सहज निमित्त-नैमित्तिक स्वतन्त्र सम्बन्ध है, इससे वह एक अलग प्रकरण के रूप में आगे दिया गया है।

अब प्रश्न उठता है कि—यदि जीव शरीर को नहीं चलाता है तो जब शरीर मुर्दा होता है, तब क्यों नहीं चलता?

उसका उत्तर यह है कि—शरीर पुद्गल-जड़ पदार्थ है, उसकी अवस्था चलनेरूप ही हो—ऐसा नहीं होता। किसी समय वह स्थिर होने योग्य भी होती है। मुर्दे की (पुद्गल की) अवस्था उस समय स्वतः से स्थिर रहने योग्य है, इससे वहाँ उस समय कोई जीव निमित्तरूप से उपस्थित होता ही नहीं—ऐसा सहज निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। देह और जीव एक आकाशक्षेत्र में होने से देह को असद्भूत व्यवहारनय से 'सचेतन' कहा जाता है और 'जीव, शरीर को चलाता है' ऐसा कहा जाता है। उसका अर्थ ही यह है कि देह को सचेतन कहना इत्यादि 'असत्' है, परन्तु लोगों का वैसा बोलने का प्रसिद्ध 'व्यवहार' है, इसलिए अज्ञानी जो वैसी भाषा बोलते हैं, उसे 'व्यवहार' कहा जाता है। वह वास्तविकता नहीं है, इसलिए उसे 'असद्भूत' कहा जाता है। विचारक सम्यग्दृष्टि को ऐसा ही ज्ञात होता है, इसलिए उसे श्रुतज्ञान का पक्ष अर्थात् 'नय' कहा जाता है। तथापि जीव वास्तव में (शरीर को) चलाता है—ऐसा मान लें तो वह निश्चय का वचन हो जाये, जो कि बराबर नहीं है। वह तो निमित्त को उपादान मानने के बराबर होता है, इसलिए जीव को विचारकर यथार्थस्वरूप समझ लेना चाहिए। जीव, शरीर की क्रिया नहीं कर सकता, इसलिए उसे स्वीकार करना या निषेध करना है ही नहीं। [वृहत् द्रव्यसंग्रह गाथा ८ की टीका में आचार्य ने कहा है कि

'व्यवहारनय से जीव को कर्तापन का राग आता है उसका अर्थ ऐसा न करे कि जीव हस्तादिक की क्रिया व्यवहार से कर सकते हैं।']

३—तब फिर **प्रश्न** उठता है कि 'देह-दमन' 'इन्द्रिय-निग्रह' कैसे हो सकता है?

उत्तर:—जितेन्द्रियता का यथार्थ स्वरूप प्रकरण ९ के पैरे में दिया है, वहाँ से समझ लेना। जब जीव अपना आत्मस्वरूप यथार्थ समझता है, तब देह और इन्द्रियों को अपना नहीं मानता; और स्व में सन्तोष को धारण करता रहता है, उससे उनका राग क्रमशः दूर होता जाता है। ज्ञानी जड़ इन्द्रियों को तथा जड़ देह की पुष्टि का राग दूर करते हैं, इससे सहज ही गृद्धिभाव अल्प होने से आहार लेने का विकल्प अथवा इन्द्रियों की पुष्टि का विकल्प टूटता जाता है और आहार लेने का तथा इन्द्रियों की पुष्टि का कार्य सहज ही नहीं बनता, वह 'देह-दमन' और 'इन्द्रिय-निग्रह' का यथार्थ स्वरूप है।

४—जिसे आत्मा के स्वरूप का भावभासनसहित भेदज्ञान नहीं है, वह तो ऐसा मानता है कि देह और इन्द्रियों पर मेरा अधिकार चल सकता है और वैसा अधिकार भोगते समय जो क्रिया होती है, उसे वह देह-दमन और इन्द्रियनिग्रह मानता है; परन्तु वह क्रिया सहज न होने से जीव को कष्ट होता है, कष्ट तो दुःख है, उसे आर्तध्यान कहा जाता है। आर्तध्यान तो बुरा ध्यान है और वह पापरूप है, पाप से धर्म कैसे हो? धर्मध्यान तो आत्मा की अंशतः शुद्ध अवस्था है। धर्म का अर्थ है वस्तु का स्वभाव। वस्तु का स्वभाव कष्टदायक—दुःखदायक होता ही नहीं, परन्तु मिथ्यात्व और रागादि दुःख देता है। आत्मवस्तु का स्वभाव समझने से धर्म होता है। 'यथार्थ समझरूप धर्म' त्रैकालिक पूर्णज्ञानस्वभावी निज शक्तिरूप स्व में एकाग्र होने से होता है, जिसका नाम शुद्धोपयोग है; जघन्यरूप में तारतम्यरूप वह ४ से ७ वें गुणस्थान तक होता है , उसे 'धर्मध्यान' कहा जाता

है। धर्मध्यान में जीव के रुकने से जितने अंश में जड़ इन्द्रियाँ या उनके विषयों प्रति रागादि की उत्पत्ति का न होना, उसे 'इन्द्रिय निग्रह' कहते हैं और उसी को 'देह दमन' कहा जाता है।

५—मिथ्यात्व, राग, द्वेष यह विकारी चैतन्यदेह है। 'मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण' वह सम्यग्दर्शन की प्राप्ति है और वह सत्य देहदमन तथा इन्द्रिय निग्रह है, क्योंकि सम्यग्दर्शन होने से ही उसके ऊपर का (देह-इन्द्रिय के ऊपर का) राग-द्वेष अंशत: टूट जाता है और जब जीव स्वरूपाचरणचारित्र में पूर्ण होता है, तब राग-द्वेष का पूर्ण नाश करता है, तब विकारी चैतन्य देह का दमन पूर्ण होता है। जड़ इन्द्रियों द्वारा ज्ञान का व्यापार सर्वथा बन्द होकर सम्पूर्ण अतीन्द्रियज्ञान हो, तब जड़ इन्द्रियनिग्रह और जड़ देह-दमन कहलाता है। देह-दमन और इन्द्रिय-दमन का इसके अतिरिक्त दूसरा कोई सत्य अर्थ नहीं है।●

प्रकरण : १५
मोक्षमार्ग में ज्ञान कितने प्रतिशत और क्रिया कितने प्रतिशत

१— 'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः' इस सूत्र में ज्ञान कितने प्रतिशत गिनना और क्रिया कितने प्रतिशत गिनना, वह यहाँ कहा जाता है।

२— यहाँ 'ज्ञान' अर्थात् सम्यग्ज्ञान का शत प्रतिशत, और क्रिया का अर्थ है 'शुद्धात्म-अनुभव क्रिया' उसका भी शत प्रतिशत जब प्रगट हो अर्थात् परम यथाख्यातचारित्र प्रगट होता है, तब मोक्ष प्रगट होता है। सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की अपूर्णता हो, वहाँ तक सम्पूर्ण शुद्धता प्रगट नहीं होती। मोक्ष का अर्थ है जीव की अपनी पूर्ण पवित्र दशा।

३— इससे सिद्ध हुआ कि—(१) शुद्धात्मा की अनुभवरूप ज्ञान की क्रिया में शारीरिक क्रिया का एक प्रतिशत भी नहीं या उसका अनन्तवाँ भाग तक नहीं, (२) चैतन्य की शुभक्रिया का (पुण्य का) भी उसमें एक प्रतिशत भी नहीं या उसका अनन्तवाँ भाग भी नहीं, (३) चैतन्य की अशुभ क्रिया (पाप) का एक प्रतिशत भी नहीं या उसका अनन्तवाँ भाग भी नहीं, (४) मिथ्यात्व (विपरीत मान्यता) का एक प्रतिशत भी नहीं या उसका अनन्तवाँ भाग भी नहीं, (५) मिथ्याज्ञान का या ज्ञान की अपूर्णता का एक प्रतिशत भी नहीं या उसका अनन्तवाँ भाग तक नहीं।

४— यह सब अस्वीकृतरूप कहा; स्वीकृतरूप निम्न प्रकार है:—

(१) केवल सम्यग्दर्शन;

(२) सम्यग्ज्ञान की पूर्णता;

(३) सम्यक्चारित्र की (चैतन्य शुद्धक्रिया की) पूर्णता।

५— मोक्ष अर्थात् विकार में से सम्पूर्णतया मुक्त होना। सम्पूर्णतया विकार से मुक्त होना ही सम्पूर्ण शुद्धता है और जहाँ सम्पूर्ण शुद्धता प्रगट हो, वहाँ सम्पूर्ण सुख प्रगट होगा ही, यह निर्विवाद है। शुद्धता अर्थात् पवित्रता। आत्मा के सच्चे स्वरूप को न समझनेवाला शुभभाव (पुण्य) को पवित्रता मानता है; आत्मा के स्वरूप को समझनेवाला शुभाशुभभाव रहित अर्थात् मिथ्यात्व राग-द्वेष रहित सम्पूर्ण अकषायभाव को (वीतरागता को) पवित्रता मानता है। ●

प्रकरण : १६
जीव को प्रथम क्या करना चाहिए?

१— श्री मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय ७ में इस सम्बन्ध निम्न अर्थ में कहा है:—

(१) प्रथम तत्त्वज्ञान का उपाय करना और पश्चात् कषाय घटाने का प्रयत्न करना।

(२) जैनधर्म में तो ऐसा उपदेश है कि—पहले तत्त्वज्ञानी हो, पश्चात् जिसका त्याग करे, उसका दोष पहिचाने। त्याग करने से जो गुण हो, उसे जाने और अपने परिणामों का विचार करे।

(३) पहले तत्त्वज्ञान होने के पश्चात् ही आचरण कार्यकारी है।

(४) हेय-उपादेय तत्त्वों की परीक्षा करना योग्य है, वहाँ जीवादि द्रव्य तथा तत्त्वों को पहिचानना; त्यागने योग्य मिथ्यात्व रागादि तथा ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शनादि के स्वरूप को यथावत् जानना; जिसे जानने से मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति हो, उसे अवश्य जानना, उसकी तो परीक्षा करना, सामान्य रूप से हेतु-युक्ति द्वारा उसे जानना, प्रमाण-नयों द्वारा जानना।

(५) जीव का कर्तव्य तो तत्त्वनिर्णय का अभ्यास ही है और तब दर्शनमोह कर्म का उपशम तो स्वयं ही होता है।

(मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ९)

(६) अब सर्व प्रकार से अवसर आया है, ऐसा अवसर प्राप्त करना कठिन है, इससे श्रीगुरु दयालु होकर मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं, उसमें भव्य जीवों को प्रवृत्ति करना चाहिए।

(७) प्रथम तो आज्ञादि द्वारा और परीक्षा द्वारा कुदेवादि की मान्यता

छोड़कर अरिहन्तदेव का श्रद्धान करना; क्योंकि उनका श्रद्धान होने से गृहीत मिथ्यात्व का अभाव होता है, इसलिए प्रथम सत् देवादिक का श्रद्धान करना चाहिए; पश्चात् जिनमत में कहे हुए जीवादि तत्त्वों का विचार करना, उनके नाम लक्षणादि सीखना, क्योंकि इनके अभ्यास से तत्त्व श्रद्धान की प्राप्ति होती है; पश्चात् जिनसे स्व-पर का भिन्नत्व भासित हो, वैसे विचार करना, क्योंकि इस अभ्यास से भेदविज्ञान होता है; उसके पश्चात् स्व में स्वपना मानने के लिए विचार करते रहना; क्योंकि इस अभ्यास से आत्मानुभव की प्राप्ति होती है।

(मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ९)

(८) स्वाधीन उपदेश देनेवाले आत्मज्ञानी गुरु का योग मिलने पर भी जो जीव धर्म वाक्यों को नहीं सुनता, वह हठी और दुष्टचित्त है। अथवा जिस संसार भय से श्री तीर्थंकरादि भयभीत हुए, उस संसार भय से जो रहित है, वह महान योद्धा है। श्री प्रवचनसार में जहाँ मोक्षमार्ग अधिकार कहा है, वहाँ भी प्रथम आगमज्ञान ही ग्रहण करने योग्य कहा है, इसलिए इस जीव का मुख्य कर्तव्य तो आगमज्ञान है, यह होने पर तत्त्वों का श्रद्धान होता है; तत्त्वश्रद्धान होने से संयमभाव होते हैं और उस आगम से आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है, जिससे सहज मोक्ष की प्राप्ति होती है। *(मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ९ अन्तिम पैरा)*

इसलिए पहला प्रयत्न आत्मज्ञान प्राप्ति का होना चाहिए। यदि आभ्यन्तर के लिये प्रयास नहीं है तो सर्व क्रियाकाण्ड आडम्बर में परिणत हो जाता है। सर्व प्रयत्नों का उद्देश्य स्वात्म उद्देश्य ही होना चाहिए।

इसलिए सर्व कार्यों से पूर्व दृढ़तासहित स्वात्मबोध करना चाहिए कि मैं हूँ अवश्य। जब तक अपनी सत्ता का निर्णय न हो, तब तक अन्धकार का नाश मुट्ठी से करने का प्रयत्न करने जैसी मूर्खतापूर्ण है।

इससे जब तक हो सके, उन औपाधिक भावों का यथार्थ ज्ञान

करना ही मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी है। औपाधिक भावों का त्याग किये बिना, हम सम्यग्दर्शन के पात्र नहीं हो सकते।

३—**प्रश्न**—मिथ्यात्व और राग-द्वेष कैसे दूर होते हैं?

उत्तर—उसका उपाय यह है कि प्रथम स्वानुभव से आत्मतत्त्व की यथार्थ श्रद्धा करना।

प्रश्न—स्वानुभव कैसे होता है?

उत्तर—जिस प्रकार परोन्मुख होने से पर का ज्ञान होता है तथा जो पर का जाननेवाला है, वही यदि स्वोन्मुख हो तो स्वयमेव अपना ज्ञाता हो जाता है। मात्र उपयोग को बदलने की आवश्यकता है और तब यह सहज ही समझ में आ जाता है।

श्री आत्मसिद्धि शास्त्र में निम्नानुसार कहा है:—

प्रत्यक्ष सद्गुरु सम नहीं, परोक्ष जिन उपकार,
ऐसा लक्ष हुए बिना, उगे न आत्मविचार॥११॥

सद्गुरुना उपदेश वण समजाय न जिनरूप,
समज्या वण उपकार शो? समज्ये जिनस्वरूप॥१२॥

आत्मादि अस्तित्वनां जेह निरूपक शास्त्र,
प्रत्यक्ष सद्गुरु योग नहीं त्यां आधार सुपात्र॥१३॥

उन्होंने दो उपाय बतलाये हैं। प्रथम तो प्रत्यक्ष आत्मज्ञानी का उपदेश सुनना और यदि वह उपस्थित न हो, तब आत्मा और उसके तत्त्व का प्ररूपण करनेवाले शास्त्र का अभ्यास करना। जीव की अनादि की विपरीतता है, वह आत्मस्वरूप को यथार्थतया जाननेवाले सद्गुरु के बिना समझ में नहीं आती। जीव को सुपात्रता प्राप्त करना होगी और तभी वह शास्त्रों के मर्म को समझ सकेगा।

५—श्री समयसार गाथा १२ के भावार्थ में निम्न प्रकार बताया है:—

'जब तक यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान की प्राप्तिरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न हुई हो, तब तक तो जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है, ऐसे जिनवचनों को सुनना, धारण करना, श्री जिन गुरु भक्ति, जिनप्रतिमा के दर्शन इत्यादि व्यवहार मार्ग में प्रवृत्त होना प्रयोजनवान है।'

इसमें मुमुक्षु की पात्रता और उत्तरदायित्व है; उसे इतनी पात्रता तो प्राप्त करके, परीक्षा करके निश्चित् करना पड़ेगा कि जो मैं सुनता हूँ, वे ऐसे जिनवचन हैं जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है ? जब तक जीव इतना भी निश्चित न करे, तब तक तो उसे धर्म की रुचि ही नहीं है। 'स्थूल व्यवहार मार्ग' भी तभी कहलाता है, जब यह निश्चित करे कि वह 'निश्चयमार्ग' नहीं है। यदि वैसा मानेगा तो अज्ञानमय व्यवहार मार्ग को छोड़कर निश्चयमार्ग ग्रहण करेगा, परन्तु यदि वैसा न माने तो 'व्यवहार मार्ग' को ही सच्चा मार्ग मानेगा और उसी को 'निश्चयमार्ग' मान लेगा; इसलिए अनादि से जो भूल चली आ रही है, वह बनी रहेगी और शुभोपयोग को धर्म मानेगा। व्यवहार मार्ग जानने योग्य है, परन्तु अनुसरण करने योग्य नहीं है।

श्री समयसार गाथा ८ के भावार्थ में कहा है कि:—

'व्यवहारनय ××परमार्थ का प्रतिपादक होने से व्यवहारनय स्थापन करने योग्य है×××वह (व्यवहारनय) अनुसरण करने योग्य नहीं है। ××यहाँ तो व्यवहारनय का अवलम्बन छुड़ाकर परमार्थ में पहुँचाते हैं—ऐसा समझना।'

आत्मा का स्वरूप समझे बिना किसी जीव ने व्रत किये और उसका फल सम्यग्दर्शन हुआ—ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है, क्योंकि बालव्रत का फल कभी भी सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। जिन जीवों के व्रत नहीं थे, उन्होंने ज्ञानी पुरुषों का यथार्थ उपदेश सुनकर, तत्त्वविचार करके, सम्यग्दर्शन प्राप्त किया, ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जैसे कि—

(१) श्री कृष्णवासुदेव—कोई व्रत नहीं था, तथापि श्री नेमिनाथ भगवान का उपदेश सुनकर सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुए।

(२) श्री श्रेणिक महाराजा—कुछ भी व्रत नहीं था, तथापि सम्यग्ज्ञानी गुरु का उपदेश सुनकर सम्यग्दर्शन प्राप्त किया और भगवान महावीरस्वामी के पादमूल में क्षायिक सम्यग्दृष्टिपना प्राप्त किया।

अनेक द्रव्यलिंगी भव्य या अभव्य मुनि निरतिचार पंच महाव्रत का पालन करते हैं, उसका फल नवमें ग्रैवेयक में देव होना बताया है, परन्तु सम्यग्दृष्टिपना नहीं बताया; क्योंकि वह फल नहीं है।

इसका अर्थ यह नहीं कि शुभभावों को छोड़कर पाप किये जायें; परन्तु वे शुभभाव सम्यग्दर्शन का (धर्म का) कारण नहीं हैं—ऐसा समझकर आत्मा का तत्त्व क्या है, उसे बराबर जानकर सम्यग्दर्शन प्रगट करना।

कोई ऐसा मानता है कि—

'बाह्यव्रत अधिक धारण करने से मिथ्यात्व की न्यूनता होगी, परन्तु वह नहीं होता, क्योंकि जैसे एक भैंसा जो कि हजारों घास के पूले खा गया है, वह एक तृण से नहीं डरता; उसी प्रकार मिथ्यात्वरूपी भैंसा जो कि पूलों रूपी अनन्तानुबन्धी कषाय से अनन्त बार चारित्र को खा गया है, वह एक तृणरूपी बाह्यव्रत से कैसे डरेगा? परन्तु जैसे भैंसे को एक बन्धन से बाँध लें तो वह आधीन हो जाता है, उसी प्रकार मिथ्यात्वरूपी भैंसे को आत्मा के बलरूपी बन्धन से बाँध लें, तब वह आधीन हो, अर्थात् आत्मा की शक्ति बढ़े, तब मिथ्यात्व कम हो।' ● *(देवनागरी लिपि में श्रीमद् राजचन्द्र, पृष्ठ ५०९)*

प्रकरण : १७
निमित्त परद्रव्य का क्या कर सकता है? (१)

१—श्री समयसार, गाथा ११६ से १२० की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि:—

'क्या जीव स्वयं अपरिणमित पुद्गलद्रव्य को कर्मभावरूप परिणमित करता है या स्वयं परिणमित को?

प्रथम, स्वयं अपरिणमित को पर द्वारा परिणमित नहीं किया जा सकता; क्योंकि वस्तु में जो शक्ति स्वत: (अपने से ही) न हो, उसे अन्य कोई नहीं कर सकता; इसलिए प्रथम पक्ष असत्य है।

दूसरा, स्वयं परिणमित को तो पर (अन्य) परिणमित करनेवाले की अपेक्षा नहीं होती; क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखती। (इसलिए दूसरा पक्ष भी असत्य है)'

वे (श्री अमृतचन्द्राचार्य) समयसार, गाथा १२१ से १२५ की टीका में निम्नानुसार कहते हैं:—

'पुद्गल कर्म जो क्रोधादिक हैं, वह स्वयं अपरिणमित जीव को क्रोधादिभावरूप परिणमित करते हैं या स्वयं परिणमित को?

प्रथम, स्वयं अपरिणमित को पर द्वारा परिणमित नहीं किया जा सकता; क्योंकि (वस्तु में) जो शक्ति स्वत: न हो, उसे अन्य कोई नहीं कर सकता और स्वयं परिणमित को तो पर (अन्य) परिणमित करनेवाले की अपेक्षा ही नहीं होती; क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखतीं। (इस प्रकार दोनों पक्ष असत्य हैं।)'

२—एक द्रव्य जब विकारी अवस्था धारण करता है, तब दूसरे द्रव्य की अवस्था (पर्याय) उपस्थित होती है—यह बात सत्य है;

परन्तु उससे एक द्रव्य की विकारी अवस्था दूसरे से नहीं की जा सकती; द्रव्य जो विकारी अवस्था धारण करता है, वह स्वतः अपने से ही करता है, उस समय जो परद्रव्य की अवस्था उपस्थित होती है, उसे 'निमित्त' नाम दिया जाता है, परन्तु उपादान को (नैमित्तिक को) निमित्त कुछ कर नहीं सकता—ऐसा उपरोक्त सिद्धान्त से निश्चित होता है। यथार्थ स्वरूप को न समझनेवाले निमित्त को उपादेय मानते हैं, परन्तु वह भूल है। इससे श्री जयसेनाचार्य ने समयसार टीका में वह मान्यता छोड़ देने के लिए कहा है।

३—इस जगत में एक सहज निमित्त-नैमित्तिक भाव ऐसा है कि पुद्गलकर्म का उदय हो, तब जीव अपना सत्य पुरुषार्थ न करे तो अपनी असावधानी के कारण स्वतः विकारी भाव करता है, तब कर्म के उदय पर जीव के विकारी भाव का 'निमित्त कारण' होने का आरोप आता है। यदि जीव सावधानी रखे और विकारी भाव न करे तो वही पुद्गल कर्म 'निर्जरा' नाम प्राप्त करता है। दोनों कथन में पुद्गल कर्म आत्मप्रदेश में से खिर गये—इतना ही उस पुद्गल में बना है, इससे जीव विकारी भाव करे, तब कर्म का उदय जो 'निमित्त' नाम प्राप्त करता है, वह कर्मोदयरूप निमित्त उपस्थित होने पर भी उससे पृथक् ही जीव का परिणमन होता है।

४—कर्म का उदय, बन्ध का कारण नहीं है—ऐसा श्री प्रवचनसार अध्याय १ की गाथा ४३ के भावार्थ में पण्डित हेमराजजी ने बताया है, वह निम्नानुसार है—

भावार्थ—'सर्व संसारी जीवों के कर्मों का उदय है, परन्तु उदय, बन्ध का कारण नहीं है। यदि कर्मजनित इष्ट-अनिष्ट भावों में जीव रागी-द्वेषी, मोही होकर परिणमन करता है तो बन्ध होता है; इससे यह बात सिद्ध हुई कि ज्ञान तथा कर्म के उदय से उत्पन्न जो क्रिया, वह बन्ध का कारण नहीं है। बन्ध का कारण तो केवल राग-द्वेष-मोह भाव हैं; इसलिए वे सर्व प्रकार से छोड़ने योग्य हैं।

प्रवचनसार की गाथा ४५ की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने यह विषय प्रश्न-उत्तररूप से रचा है, वह निम्नानुसार है:—

'अत्र-शिष्य—'औदयिका भावा बंध कारणं' यह आगम-वचन तो वृथा होता है ?

परिहार—उदयभाव बन्ध कारण है, परन्तु मोह-उदय में युक्त हो तो बन्ध कारण होता है। द्रव्यमोहोदय होने पर भी यदि शुद्ध आत्मभावना के बल से भावमोहरूप परिणमित न हो तो बन्ध नहीं होता। और यदि मात्र कर्मोदय से ही बन्ध हो तो संसारी के सर्वदा कर्मोदय विद्यमान होने से सर्वदा बन्ध ही रहे, मोक्ष न हो; ऐसा यहाँ अभिप्राय है।'

''जीव यदि विकारी भाव करे तो कर्म का उदय 'निमित्त' कहलाता है। निमित्त कहीं पर द्रव्य को (जीव को) नहीं करता, इसलिए निमित्त मात्र विद्यमान होता है परन्तु वह परद्रव्य का कुछ नहीं करता।'' निमित्त नहीं है—ऐसा कहो तो ज्ञान की भूल है। इससे मिथ्याज्ञान का दोष आता है, और यदि निमित्त उपादान को कुछ करता है अथवा कर्म का तीव्र उदय हो, तब जीव को उसका अनुसरण करके विकारीभाव करना पड़ते हैं—ऐसा मानो मिथ्यादृष्टिपना आता है; इसलिए दोनों को जैसे हैं, वैसा समझना चाहिए।

५—उपादान का विकारकार्य होने में उपादान का शत-प्रतिशत है और निमित्त का एक प्रतिशत भी नहीं है। निमित्त का शत-प्रतिशत निमित्त में है। यदि उसका कुछ अंश (प्रभाव) निमित्त में जाये तो निमित्त द्रव्य का अस्तित्व ही न रहे; निमित्त की अनन्त शक्ति निमित्त में रहती है क्योंकि किसी वस्तु की अनन्त शक्ति में से कुछ शक्ति दूसरी वस्तु में जाये तो अपनी शक्ति क्रमशः क्षीण होने से रहेगी ही नहीं। यह सिद्धान्त श्री समयसार की गाथा १०३ में निम्नानुसार दिया है:—

जो जह्मि गुणे दव्वे सो अण्णह्मि दु ण संकमदि दव्वे।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं॥१०३॥

यो यस्मिन् गुणे द्रव्ये सोऽन्यस्मिंस्तु न संक्रामति द्रव्ये।
सोऽन्यदसंक्रांतः कथं तत्परिणामयति द्रव्यम्॥१०३॥

अर्थ—जो वस्तु (द्रव्य) जिस द्रव्य में और गुण में प्रवर्तमान होती है, वह अन्य द्रव्य में तथा गुण में संक्रमण नहीं पाती (बदलकर अन्य में नहीं मिल जाती); अन्यरूप से संक्रमण न पाती हुई वह (वस्तु); अन्य वस्तु को कैसे परिणमित कर सकेगी?

टीका—जगत में जो कोई जितनी वस्तु जिस किसी जितने चैतन्यस्वरूप या अचैतन्यस्वरूप द्रव्य में और गुण में निजरस से ही अनादि से ही प्रवर्तमान है वह, वास्तव में अचलित वस्तुस्थिति की मर्यादा को (इस गुण को 'अगुरुलघु गुण' कहा जाता है) तोड़ने में अशक्य होने से, उसी में (अपने उतने ही द्रव्य-गुण में) प्रवर्तमान रहती है, परन्तु द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप संक्रमण नहीं पाती; और द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप संक्रमित न होनेवाली वह वस्तु अन्य वस्तु को कैसे परिणमित कर सकती है? (कभी नहीं कर सकती); इसलिए परभाव किसी से नहीं किये जा सकते। ●

निमित्त परद्रव्य का क्या कर सकता है? (२)

१—यह सिद्धान्त श्री समयसार नाटक में सर्वविशुद्ध अधिकार में बताया है, वह निम्न प्रकार है:—

अज्ञानियों के विचार में मिथ्यात्व और राग-द्वेष का कारण

(दोहा)

कोऊ मूरख यों कहै, रागदोष परिनाम।
पुग्गल की जोरावरी, वरतै आतमराम॥६२॥

ज्यों ज्यों पुग्गल बल करै, धरि धरि कर्मज भेष।
रागदोष कौ परिनमन, त्यों त्यों होइ विशेष॥६३॥

अर्थ—कोई-कोई मूर्ख कहते हैं कि आत्मा में राग-द्वेषभाव पुद्गल की बलजबरी से होते हैं। वे कहते हैं कि—पुद्गल कर्म जितना-जितना बल करता है, उतनी-उतनी बाहुल्यता से राग-द्वेष परिणाम होते हैं।

अज्ञानी को सत्यमार्ग का उपदेश

(दोहा)

इहि विधि जो विपरीत पख, गहै सद्दहै कोइ।
सो नर रागविरोध सों, कबहूँ भिन्न न होइ॥६४॥

सुगुरु कहै जगमें रहै, पुग्गल संग सदीव।
सहज सुद्ध परिनमनिकौ, औसर लहै न जीव॥६५॥

तातैं चिदभावनि विषै, समरथ चेतन राउ।
राग विरोध मिथ्यात्व में, समकित में सिव भाउ॥६६॥

(देखो, समयसार नाटक, पृष्ठ ३५३)

अर्थ—ऊपर जो विधि कही है, वह तो विपरीत (उल्टा) पक्ष है, जो उसे ग्रहण करता है या उसकी श्रद्धा करता है, उस जीव के राग, द्वेष, मोह कभी भिन्न होते ही नहीं। श्रीगुरु कहते हैं कि जीव को पुद्गल का संग सदा (भूमिकानुसार निरन्तर) रहता है, तब फिर उसे सहजशुद्ध परिणमन का कभी अवसर ही नहीं मिलेगा, इसलिए चैतन्य के भाव करने में चेतन राजा समर्थ है। वह स्वत: से मिथ्यात्वदशा में राग-द्वेष होता है, और सम्यक्त्वदशा में शिवभाव अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप होता है।

२—कर्म का उदय जीव को कुछ नहीं कर सकता, अर्थात् निमित्त, उपादान को कुछ नहीं कर सकता। इन्द्रियों के भोग, लक्ष्मी, कुटुम्बीजन या मकानादि के लिये भी वही नियम है। प्रश्नोत्तर के

रूप में श्री समयसार नाटक के 'सर्वविशुद्ध द्वार' में निम्न अनुसार यह नियम दिया है।

कोऊ शिष्य कहै स्वामी राग दोष परिनाम,
ताकौ मूल प्रेरक कहहु तुम कौन है।
पुग्गल करम जोग किधौं इन्द्रिनि कौ भोग,
किधौं धन किधौं परिजन किधौं भौन है॥
गुरु कहैं छहौं दर्व अपने अपने रूप,
सबनि कौ सदा असहाई* परिनौन है।
कोऊ दरब काहू कौ न प्रेरक कदाचि तातैं,
राग दोष मोह मृषा मदिरा अचौन है॥६१॥

अर्थ—शिष्य कहता है—स्वामी! राग-द्वेष परिणामों का मूल प्रेरक कौन है? वह आप कहिये। पुद्गलकर्म, इन्द्रियों का भोग, धन, कुटुम्बीजन या मकान?

श्रीगुरु समाधान करते हैं कि, छहों द्रव्य अपने-अपने स्वरूप में हैं; सभी सदा असहाय परिणमित होते हैं। कोई द्रव्य किसी द्रव्य का कभी भी प्रेरक नहीं है। राग-द्वेष का कारण, मिथ्यात्वरूपी मदिरा का पान है।

३—इससे सिद्ध हुआ कि द्रव्यकर्म या अन्य कोई पदार्थ जीव को बिल्कुल हैरान नहीं कर सकते। जीव को अनादि से पर के दोष देखने का अभ्यास है, इससे शास्त्र स्वाध्याय में वह 'असद्भूत व्यवहार के' वचनों का परमार्थ भाव न समझने से द्रव्यकर्मों पर दोष डालता है; दोष अपना है, तथापि उसे नहीं देखता—यह महादोष है।

---

* प्रत्येक द्रव्य असहाय-स्वतन्त्र और पर के आधार रहित है; ऐसा समयसार नाटक में अनेक स्थानों पर कथन है। देखो, पृष्ठ ३४३ गाथा ५१। पृष्ठ ३८२ गाथा ११६। पृष्ठ १९५, १९६, २३२, २४६, २६४, २८८। कर्ताकर्म द्वार गाथा ३५, निर्जरा अधिकार गाथा २०, ३८, ३९। बन्ध द्वार गाथा १७, ३१, ५३। मोक्ष द्वार गाथा २१, २२ और सर्वविशुद्धि द्वार गाथा ५१।

यह सिद्धान्त समयसार कलश २१९ में तथा गाथा ३७२ में दिया है:—

रागद्वेषोत्पादकं तत्वदृष्टया नान्यद्द्रव्यं वीक्ष्यते किंचनापि।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति व्यक्तात्यंतं स्वस्वभावेन यस्मात्॥२१९॥

अर्थ—तत्त्वदृष्टि से देखने पर, राग-द्वेष को उत्पन्न करनेवाला अन्य द्रव्य किंचित् दिखायी नहीं देता; क्योंकि सर्व द्रव्यों की (पर्याय-) उत्पत्ति अपने स्वभाव से ही होती हुई अन्तरंग में अत्यन्त प्रगट प्रकाशित होती है।

श्री समयसार की गाथा ३७२ में भी कहा है कि:—

अण्णदविएण अण्णदवियस्स ण कीरइ गुणुप्पाओ।
तह्मा उ सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण॥३७२॥

अर्थ—अन्य द्रव्य को अन्य द्रव्य से गुणों की उत्पत्ति नहीं की जा सकती; इससे (यह सिद्धान्त है कि) सर्व द्रव्य अपने-अपने स्वभाव से उत्पन्न होते हैं।

टीका—और ऐसी शंका नहीं करना कि जीव को परद्रव्य रागादिक उत्पन्न कराते हैं; क्योंकि अन्य द्रव्य के द्वारा अन्य द्रव्य के गुणों का उत्पाद कराने की अयोग्यता है, क्योंकि सर्व द्रव्यों का स्वभाव से ही उत्पाद होता है।

× × × ×

इसलिए (आचार्यदेव कहते हैं कि) जीव को रागादि का उत्पादक हम परद्रव्य को देखते (मानते, समझते) नहीं हैं कि जिस पर कोप करें।

ऐसा स्पष्ट स्वरूप होने पर भी द्रव्यकर्म जीव को हैरान करते हैं—ऐसा वास्तव में मानना वह गम्भीर भूल है।

४—परद्रव्य तो निमित्तमात्र है; क्योंकि अन्य द्रव्य को अन्य द्रव्य-गुण-पर्याय उत्पन्न नहीं कराता—यह नियम है। जो ऐसा मानते

हैं—ऐसा एकान्त करते हैं कि—'परद्रव्य ही मुझे रागादिक उत्पन्न करता है' वे नय विभाग को नहीं समझे हैं, मिथ्यादृष्टि हैं। यह रागादिक जीव के सत्व में उत्पन्न होते हैं, परद्रव्य तो निमित्तमात्र है—ऐसा मानना, सो सम्यग्ज्ञान है। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि—हम राग-द्वेष की उत्पत्ति में अन्य द्रव्य पर किसलिए कोप करें? राग-द्वेष का उत्पन्न होना, वह अपना ही अपराध है।

५—परद्रव्य बलात्कार से तो कहीं भी नहीं बिगाड़ता; इस सिद्धान्त की स्पष्टता श्री मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ७ में निम्न प्रकार की गयी है।

'**प्रश्नः**—सम्यग्दृष्टि भी परद्रव्यों को बुरा जानकर त्याग करता है?

उत्तरः—सम्यग्दृष्टि परद्रव्यों को बुरा नहीं जानता, परन्तु अपने रागभाव को बुरा जानता है; स्वतः सरागभाव को छोड़ता है, इससे उसके कारणों का भी त्याग होता है। वस्तु का विकार करने से कोई परद्रव्य तो अच्छा-बुरा है ही नहीं।' (यह सिद्धान्त ऊपर पैरा नं० ३ में भी बतलाया है।)

प्रश्नः—निमित्तमात्र तो है?

उत्तरः—परद्रव्य बलात्कार से तो कहीं बिगाड़ता नहीं है, परन्तु अपना भाव बिगड़े, तब वह बाह्य निमित्त कहलाता है। और इस निमित्त के बिना भी, भाव तो बिगड़ते हैं, इसलिए वह नियमरूप निमित्त भी नहीं है। इस प्रकार परद्रव्य का दोष देखना तो मिथ्याभाव है। रागादि बुरे हैं—ऐसी उन्हें समझ नहीं है; वे (द्रव्यलिंगी मुनि) तो परद्रव्य के दोष देखकर उसमें द्वेषरूप उदासीनता करते हैं। सच्ची उदासीनता तो उसका नाम है कि—किसी भी परद्रव्य के गुण और दोष भासित न हों, और उससे वह किसी को भी भला-बुरा न जाने, अपने को अपनेरूप जाने और पर को पररूप जाने; पर के साथ मेरा

कुछ भी प्रयोजन नहीं है—ऐसा मानकर साक्षीभूत रहे। ऐसी उदासीनता ज्ञानी के ही होती है।

प्रश्नः—जीव के आत्मप्रदेश में बँधा हुआ कर्म उदय में आने से वह दुःख में निमित्तरूप कहलाता है और दूसरे जीवों के प्रदेश में कर्म हैं, वह क्यों निमित्तरूप नहीं कहलाता?

उत्तरः—जीव के अपने परिणाम का निमित्त पाकर जो कर्म उपार्जित होते हैं, वही निमित्तरूप कहलाते हैं; जगत के दूसरे जीवों के प्रदेश में रहे हुए कर्म इस जीव के परिणाम का निमित्त पाकर नहीं हुए हैं, इसलिए इस जीव को (वे) निमित्त होते ही नहीं। ●

निमित्त परद्रव्य का क्या कर सकता है? (३)

१—जिसप्रकार परद्रव्य (जड़कर्म) जीव को कुछ कर नहीं सकते, वैसे ही जीव भी जड़ शरीर या कर्म का न कर्ता है, न करानेवाला है, न प्रेरक है, न अनुमति देनेवाला है। यह सिद्धान्त श्री प्रवचनसार अध्याय दूसरा, गाथा ६८ में बतलाया है, जो निम्नानुसार है:—

अब शरीरादि परद्रव्य में भी मध्यस्थभाव दिखाते हैं:—

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं॥६८॥

अर्थः—मैं शरीररूप नहीं हूँ, मनोयोगरूप नहीं हूँ, और वचनयोगरूप भी नहीं हूँ; उन मन-वचन-काय के उपादानकारणरूप पुद्गल पिण्ड भी मैं नहीं हूँ, इन तीनों योगों का मैं कर्ता नहीं हूँ, अर्थात् मेरे कर्तृत्व के बिना ही वे योग पुद्गलपिण्ड से किये जाते हैं; इन तीनों योगों का प्रेरक होकर करानेवाला मैं नहीं हूँ, पुद्गलद्रव्य ही उनका कर्ता है; उन योगों के करनेवाले पुद्गल-पिण्ड का अनुमोदक

भी मैं नहीं हूँ, मेरी अनुमोदना के बिना ही पुद्गल-पिण्ड उन योगों का कर्ता है, इस कारण मैं परद्रव्य में अत्यन्त मध्यस्थ हूँ।

भावार्थः—स्व-पर विवेकी जीव सर्व द्रव्यों के स्वरूप को जाननेवाला है, इस कारण इन तीनों योगों (मन, वचन, काय) को पौद्गलिक जानता है, उसमें कृत-कारित-अनुमोदना भाव न करने से, परद्रव्य का भाव जानकर त्यागी होता है, स्वरूप में निश्चल होकर तिष्ठता है (स्थिर होता है) और शुभ-अशुभ उपयोगरूप अशुद्ध उपयोग का विनाश करके निरास्रव होकर शुद्ध उपयोगी होता है। (इस नियम की श्री प्रवचनसार की गाथा ६९, ७०, ७६, ७७, ७८, ७९ में विशेष चर्चा है। समयसार गाथा ११६ से १२० में भी है, वह लिया गया है।)

२:—यह नियम निमित्तनैमित्तिकभाव को अस्वीकार नहीं करता, परन्तु उसे यथार्थतया बतलाकर उसका प्रतिपादन करता है कि—परद्रव्य विद्यमान होता है, तथापि वह परभाव का निमित्त बलात् नहीं बन सकता। यह सिद्धान्त श्री समयसार की गाथा २२०-२२३ में बताया है, उसकी टीका निम्नानुसार है:—

जिस प्रकार शंख परद्रव्य को भोगता है—खाता है, तथापि उसकी सफेदी पर के द्वारा काली नहीं की जा सकी, क्योंकि परद्रव्य किसी द्रव्य को परभावस्वरूप करने का निमित्त (कारण) नहीं बन सकता; उसी प्रकार ज्ञानी परद्रव्य को भोगे, तथापि उसका ज्ञान, पर के द्वारा अज्ञान नहीं किया जा सकता, क्योंकि परद्रव्य किसी द्रव्य को परभावस्वरूप करने का निमित्त नहीं बन सकता। इसलिए ज्ञानी को पर के अपराध के कारण बन्ध नहीं है।

और जब वही शंख, परद्रव्य का उपभोग करता या न करता हुआ श्वेतभाव को छोड़कर स्वयमेव कृष्णभावरूप परिणमित हो, तब उसका श्वेतभाव स्वयंकृत कृष्णभाव हो, (अर्थात् अपने ही द्वारा

किया गया कृष्णभावरूप हो) उसी प्रकार वही जीव, परद्रव्य भोगता या न भोगता हुआ, ज्ञान को छोड़कर स्वयमेव अज्ञानरूप परिणमित हो, तब उसका ज्ञान स्वयंकृत अज्ञान हो। इसलिए ज्ञानी को यदि बन्ध हो तो अपने ही अपराध के निमित्त से (स्वतः ही अज्ञानरूप परिणमित हो तब) बन्ध होता है।'

३:—निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध एक प्रकार का व्यवहार है। व्यवहार का अर्थ निम्नानुसार है:—

'तत्वार्थं निश्चयो वक्ति, व्यवहारो जनोदितम्'

(छोटा द्रव्यसंग्रह, भुवनेन्द्र विश्व द्वारा अनुवादित; हिन्दी पृष्ठ ३)

अर्थः—'निश्चय तो पदार्थ को जैसा है, वैसा कहता है; व्यवहार लोगों के बोलने की रीत है।'

श्री मोक्षमार्गप्रकाशक में भी कहा है कि—जिनमार्ग में किसी स्थान पर तो निश्चयनय की मुख्यतासहित व्याख्यान है, उसे तो 'सत्यार्थ ऐसा ही है' ऐसा जानना; और किसी स्थान पर व्यवहारनय की मुख्यतासहित व्याख्यान है, उसे 'ऐसा नहीं है, किन्तु निमित्तादि की अपेक्षा से यह उपचार किया है' ऐसा जानना। और इस प्रकार जानने का नाम ही दोनों नयों का ग्रहण है। परन्तु दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानकर—'इस प्रकार भी है और इस प्रकार भी है'—ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों नयों का ग्रहण करना नहीं कहा है।

४:—'उपचार' का अर्थ यहाँ बतलाने की आवश्यकता है। समयसार १०६ में उसका दृष्टांत देकर समझाया है, वह गाथा निम्न प्रकार है:—

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदं ति जंपदे लोगो।
ववहारेण तह कदं णाणावरणादि जीवेण॥१०६॥

योद्धा करें जहाँ युद्ध, वहाँ वह भूपकृत जनगण कहैं।
त्यों जीव ने ज्ञानावरण आदिक किये व्यवहार से॥१०६॥

टीका:—जिस प्रकार युद्ध परिणामरूप स्वतः परिणमित होनेवाले—ऐसे योद्धाओं द्वारा युद्ध किये जाने से, स्वतः युद्ध परिणामरूप परिणमित न होनेवाले—ऐसे राजा को 'राजा ने युद्ध किया' ऐसा जो उपचार किया जाता है, वह परमार्थ नहीं है; उसी प्रकार स्वतः ज्ञानावरणादि कर्म परिणामरूप परिणमित होनेवाले ऐसे पुद्गलद्रव्य द्वारा ज्ञानावरणादि कर्म किये जाने से, स्वतः ज्ञानावरणादि कर्म परिणामरूप परिणमित न होनेवाले—ऐसे आत्मा को 'ज्ञानावरणादि कर्म किये'—ऐसा जो उपचार किया जाता है, वह परमार्थ नहीं है।

५—इसलिए 'निश्चयनय से जीव, शरीर को नहीं चला सकता, खा नहीं सकता, पी नहीं सकता और बोल नहीं सकता; परन्तु व्यवहारनय से जीव, शरीर को चला सकता है, खा सकता है, पी सकता है, बोल सकता है;' इन दोनों नयों के व्याख्यान को समान, सत्यार्थ मानकर, जीव पर का कर सकता है—ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तन से तो दोनों नयों का ग्रहण नहीं होता। निश्चय को सत्यार्थ जानना और व्यवहार को 'सत्यार्थ नहीं है'—ऐसा जानना। मात्र अज्ञानियों का अनादि संसार से प्रसिद्ध व्यवहार (बोलने की रीति) होने से वैसा कहा है, ऐसा समझना चाहिए; उसे परमार्थ-सत्यार्थ नहीं मानना। तभी दोनों नयों का यथार्थ ग्रहण किया कहलाये।

व्यवहार के वचनों को ही निश्चय मानकर जो आत्मा को परद्रव्य का कर्ता माने, वह मिथ्यादृष्टि है। ●

(देखो, श्री समयसार गाथा ३२४-३२७)

निमित्त परद्रव्य का क्या कर सकता है ? (४)

१—एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता, इस नियम के विशेष आधार निम्नानुसार हैं:—

'यदि (पर पदार्थ) उसके परिणमित करने से परिणमित होता है तो जब वह ऐसा परिणमित न होता हो, तब वह क्यों परिणमित नहीं करता ?' *(श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक, अध्याय ४)*

'इसलिए निश्चित होता है कि—अपने करने से किसी भी परपदार्थ का सद्भाव-अभाव नहीं होता।'

'लोक में सर्व पदार्थ तो अपने-अपने स्वभाव के कर्ता हैं, कोई किसी का सुखदायक-दुःखदायक या उपकारी-अनुपकारी नहीं है।'
(मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ४)

'अनादि-निधन वस्तु भिन्न-भिन्न अपनी-अपनी मर्यादापूर्वक परिणमित होती है, कोई किसी के आधीन नहीं है; वैसे ही कोई पदार्थ किसी के परिणमित करने से परिणमित नहीं होता।'
(मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ३)

'यह सब अपने-अपने आधीन होने से उसमें कोई आता है, कोई जाता है और कोई अनेक अवस्थारूप परिणमित होता है—इस प्रकार सबकी क्रिया अपने-अपने आधीन होने पर भी यह बावला उसे अपने आधीन मानकर खेदखिन्न होता है।'
(मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ३)

'किसी द्रव्य का परिणमन किसी के आधीन नहीं है।'

यदि परद्रव्य का ग्रहण-त्याग आत्मा के हो तो आत्मा परद्रव्य का कर्ता-हर्ता हो जाये, परन्तु कोई द्रव्य किसी द्रव्य के अधीन है ही नहीं। आत्मा तो अपने रागादि भावों को छोड़कर वीतराग होता है।'
(मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ७)

२—एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता, इसलिए तो उसे अकिंचित्कर कहते हैं। जो हेतु कुछ भी न करे, वह 'अकिंचित्कर' कहलाता है। यह सिद्धान्त सर्वत्र लागू पड़ता है, इससे जीव के अध्यवसान पर में 'अकिंचित्कर' होने से अपनी अर्थक्रिया करनेवाले नहीं हैं और इसी से वह मिथ्या है। श्री समयसार गाथा २६७, संस्कृत टीका में निम्न सूत्र दिया है।

'परत्र अकिंचित्करत्वात्'

३—निमित्त का अर्थ है संयोगरूप कारण; उपादान=अर्थात् वस्तु की सहज शक्ति। (बनारसी विलास, पृष्ठ २२४ उपादान निमित्त की चिट्ठी) प्रत्येक द्रव्य स्वाधीन असहाय है, इतना ही नहीं परन्तु प्रत्येक द्रव्य के अनन्त गुणों में से प्रत्येक गुण स्वाधीन-असहाय है, इसलिए एक गुण दूसरे गुण का वास्तव में कुछ नहीं कर सकता। निमित्त, उपादान को सहायक है, प्रभाव डालता है इत्यादि कथन, वह व्यवहार अर्थात् बोलने की रीति है; वह सत्यार्थ नहीं है। निमित्त यदि जीव पर प्रभाव डालता हो तो जीव मुक्त हो ही नहीं सकता। जब वह जीव के प्रति प्रभाव डालना छोड़ दे, तब जीव की मुक्ति हो, इसलिए जीव की मुक्ति पराधीन हुई; ऐसा हो तो जब वह पर जीव पर प्रभाव डालना चाहे, तब उसे पुनः बिगाड़ दे और जीव पुनः संसारी हो जाये, यह अशक्यता आती है।

४—**प्रश्नः**—यदि आप ऐसा कहोगे तो शास्त्रों का उपदेश 'मिथ्या नहीं बोलना, चोरी नहीं करना चाहिए, ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिए'—यह सब मिथ्या हो जाएगा?

उत्तरः—जो दृष्टिकोणरूप नयों की पद्धति समझ ले, उसे ऐसी शंका होती ही नहीं, क्योंकि उस उपदेश का अर्थ ऐसा होता है कि—'चोरी न करने का भाव करना, मिथ्या न बोलने का भाव करना इत्यादि'। जीव का सच्चा भाव होने पर मिथ्या बोलने का अध्यवसाय

छूट जाता है। जीव के भावों का और वचनादि का ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है कि उस समय मिथ्या वचन मुँह से निकलता ही नहीं, परवस्तु का ग्रहण होता ही नहीं, परस्त्री की ओर रागभाव होता ही नहीं; इसलिए व्यवहारनय से इस प्रकार शास्त्रों में कहा है। उपदेश और आज्ञा के वाक्य व्यवहारनय से ही लिखे और बोले जाते हैं; किन्तु समझनेवाले उनका परमार्थ समझे, तभी व्यवहारनय कहलाता है। यदि वह वैसा न समझे तो उसके लिये वह कोई 'नय' ही नहीं है क्योंकि उसने तो 'व्यवहारनय' के वचनों को 'परमार्थनय' का वचन माना है।

जीव के भाव को और परवस्तु को वैसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, यह नियम मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ७ में निम्नानुसार दिया है:—

'सम्यग्दृष्टि परद्रव्यों को बुरा नहीं जानता, परन्तु अपने रागभाव को बुरा जानता है। स्वतः सरागभाव को छोड़ता है, इससे उसके कारणों का भी त्याग होता है।'

इस विषय में ही दो दृष्टान्त नीचे दिये हैं:—

(१) जिस मनुष्य ने ब्रह्मचर्य पालन करने का दृढ़ निश्चय किया है, वह किसी मित्र को बुलाकर अपने लिये कन्या ढुँढ़ाने का विकल्प करेगा ही नहीं और इससे उस त्याग भाव और स्त्री त्याग का ऐसा सम्बन्ध है कि उसे स्त्री का संयोग होगा ही नहीं। कदाचित् कभी कोई स्त्री उसे परिषह देने आएगी तो भी उसका भाव दृढ़ होने से एक-दूसरे का मिलाप नहीं होगा।

ब्रह्मचर्य का भाव न करे, तथापि स्त्री का संयोग नहीं होता—ऐसा तो बनता है, परन्तु ऐसा नहीं होता कि ब्रह्मचर्य का दृढ़ भाव हो और स्त्री के साथ संयोग हो जाये। यह नियम वचन, भोजन, परवस्तु का ग्रहण इत्यादि सब को लागू कर देना।

(२) एक सम्यग्ज्ञानी गृहस्थ को चाय पीने की इच्छा हो, तब नौकर से ऐसा नहीं कहा जाता कि—

'मुझे चाय पीने की इच्छा हुई है, चाय परवस्तु है, मेरे पीने से नहीं पियी जाएगी, पेट में जाना होगी तो पहुँच जाएगी, तू मेरे लिए चाय लाने की इच्छा कर, हाथ हिलाने की इच्छा कर, हाथ को चलना होगा तो चलेगा और चाय का प्याला मेरे पास आने योग्य होगा तो आएगा।' यद्यपि वस्तु का स्वरूप तो वैसा ही है, तथापि आज्ञावचन में व्यवहारनय से इस शैली से कथन का राग आता है कि—'चाय का प्याला लाओ' और फिर पेट में आने योग्य न हो तो नहीं भी आती। यह बात समाज में भी प्रचलित है इससे कहते हैं कि "There is many a slip between the cup and the lip" अर्थात् 'होंठ और प्याले के बीच तो अनेक विघ्न हैं।' अनाज के सम्बन्ध में भी कहावत है कि 'दाने-दाने पर मोहर है।'

ज्ञानी जो स्वरूप कहते हैं, वह जीव अव्यक्तरूप से बोलते हैं, परन्तु उसका स्वरूप नहीं समझते।

व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश करने में कोई समर्थ नहीं है, क्योंकि निश्चयनय का विषय अभेद एकरूप वस्तु है, इसलिए श्रीगुरु अनेक प्रकार से भेद कहकर व्यवहार द्वारा परमार्थ को समझाते हैं। व्यवहार, परमार्थ को समझाने के लिए है। शुद्धनय भूतार्थ है, उसका आश्रय करने से सम्यग्दृष्टि हुआ जा सकता है। उसे जाने बिना जब तक जीव व्यवहार में मग्न है, तब तक आत्मा में ज्ञान-श्रद्धानरूप निश्चयसम्यक्त्व नहीं हो सकता।

(देखो, समयसार गाथा ८ की टीका तथा ११ का भावार्थ)

प्रश्नः—यदि जीव सत्य को समझेंगे तो सारी अव्यवस्था हो जाएगी—जैसे कि एक मनुष्य खून करेगा और फिर कहेगा उसकी आयु पूर्ण हो गयी है, उसमें मैं क्या करूँ? इसलिए मुझे छोड़ दो।

उत्तरः—यहाँ 'सत्य' पर बिल्कुल झूठा आरोप बिना समझे लगाया गया है, वह उदाहरण में ही बताया जाता है।

एक मनुष्य ने दूसरे मनुष्य को मार डाला—ऐसा आरोप हो, तब न्यायाधीश यह देखता है कि—आरोपी का क्या इरादा था। यदि उसे मार डालने का ध्येय सिद्ध हो जाए तो फाँसी की सजा होती है; और यदि मार डालने का ध्येय न हो और असावधानी से उसका खून हुआ हो तो उस अपराध को छोटा गिनकर उसके अनुसार सजा होती है। एक आदमी को मारने में अधिक व्यक्ति हों तो प्रत्येक का तो मार डालने का सामान्य ध्येय होता है तो प्रत्येक पर हत्या करने का समान दायित्व आता है; यदि वह पृथक्-पृथक् ध्येय से हो तो उस प्रकार से न्याय होता है। जैसे कि एक मनुष्य ने दूसरे को अपने बचाव (Right of self defence) की दृष्टि से मारा हो तो वह छूट जाता है, और दूसरे जो मारने में शामिल होते हैं, उन्होंने यदि द्वेष-बुद्धि से उसे मारा हो तो अपने ध्येय के अनुसार दायित्व होते हैं। उपरोक्त प्रश्न संसार व्यवहार की रीति की अज्ञानता बतलाता है, इसी से वीतराग आज्ञा है कि शास्त्र के या अन्य वचनों को प्रमाण-नय आदि से समझना और उनकी परीक्षा करके सत्य-असत्य का निर्णय करना चाहिए। उस प्रकार समझे बिना निषेध नहीं करना चाहिए। यह निषेध तो महामिथ्यात्व की पुष्टि करता है।

अब धर्मदृष्टि से उसका विचार करते हैं; मनुष्य मरा, उससे बन्ध नहीं है, क्योंकि उसकी आयु पूर्ण होने के कारण मरा है, परन्तु जीव ने द्वेष किया, उसका बन्ध है, इसलिए वह तो महापाप भाव है। यह स्पष्टीकरण मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ७ में निम्न प्रकार किया है:—

प्रश्नः—हमारे परिणाम शुद्ध हैं, बाह्य त्याग नहीं तो उससे क्या ?

उत्तरः—यदि यह हिंसादि कार्य तेरे परिणाम के बिना स्वयं होते हों [अर्थात् उन्हें निमित्तनैमित्तिक भाव का सम्बन्ध न हो तब तो

बराबर है परन्तु भाव का और हिंसा का वैसा (निमित्तनैमित्तिक) सम्बन्ध है] तो हम ऐसा ही मानें, परन्तु तू अपने परिणामों द्वारा कार्य करता है तो वहाँ तेरे परिणाम शुद्ध किस प्रकार कहें? विषय सेवनादि क्रिया या प्रमादगमनादि क्रिया परिणाम बिना किस प्रकार होती है? यह क्रिया तो तू स्वतः उद्यमी होकर करता है और वहाँ हिंसादिक होते हैं, उन्हें तो तू गिनता नहीं है और परिणाम शुद्ध मानता है, परन्तु इस प्रकार मानने से तो तेरे परिणाम अशुद्ध ही रहेंगे।

प्रश्नः—परिणमों को रोकने से बाह्य हिंसादिक न हो परन्तु प्रतिज्ञा करने में तो बन्धन होता है, इसलिए प्रतिज्ञारूप व्रत सम्यग्दृष्टि जीव को अंगीकार करना चाहिए या नहीं?

उत्तरः—जो कार्य करने की आशा हो, उसकी प्रतिज्ञा नहीं ली जाती और आशा रहे तो उससे राग भी रहता है तथा इस राग भाव से कार्य किए बिना भी अविरति का बन्ध होता ही रहता है, इसलिए [तत्त्वज्ञानसहित] प्रतिज्ञा करनायोग्य है। और दृढ़ प्रतिज्ञारूपी कार्य करने का बन्धन हुए बिना पाप परिणाम किस प्रकार रुकेंगे? प्रयोजन पड़ने से तद्रूप परिणाम अवश्य हो जाता है, और प्रयोजन पड़े बिना भी उसकी आशा रहती है, इसलिए प्रतिज्ञा करनायोग्य है। आत्मस्वरूप को समझकर, प्रतिज्ञा का स्वरूप समझकर प्रतिज्ञा करनायोग्य है, नहीं तो "Cart before the horse" (गाड़ी आगे और घोड़ा पीछे) जैसी अवस्था होती है। सच्चा समझने से जगत में सुख मिलेगा।

मिथ्या स्वरूप समझने से जीव सुखी होता है, यह मान्यता न्याय विरुद्ध है। ●

प्रकरण : १८
निश्चय-व्यवहार के प्रश्न और उनके अर्थ

१—**प्रश्नः**—परन्तु आप जो उपरोक्तानुसार कहते हैं, वह तो एकान्त निश्चय-कथन है, व्यवहारनय आता ही नहीं?

उत्तरः—नहीं, व्यवहारनय उसी में आता है; तुम जो कहते हो, उसमें तो व्यवहारनय के वचनों को निश्चयनय के वचन मानते हो, इससे नय कुनय का दोष—अर्थात् मिथ्याज्ञान आता है, जबकि इस कथन में यथार्थ व्यवहारनय आता है। 'व्यवहारनय' के वचनों को सच्चा न मानकर उसमें से परमार्थ समझना ही व्यवहारनय है। 'व्यवहारनय' के वचन जैसे हैं, वैसा ही उन्हें सच्चा मानने से तो 'व्यवहारनय' के वचन निश्चयनय के वचन हो जाएँगे, और वैसा होने से वीतराग आज्ञा का लोप होगा।

निश्चय के अर्थ

२:—निश्चय, सत्यार्थ, परमार्थ, भूतार्थ—यह एकार्थवाची शब्द हैं; उनके अर्थ नीचे दिये जाते हैं:—

(१) निश्चय=यथार्थ (मोक्षमार्ग प्रकाशक, अध्याय ७)

(२) निश्चय शुद्धनय है—भूतार्थ है, क्योंकि वह वस्तु के स्वरूप का यथावत् निरूपण करता है।

(३) एक ही द्रव्य के भाव को उसी स्वरूप से निरूपण करना, सो निश्चयनय है।

(४) शुद्ध आत्मा का अनुभव सच्चा मोक्षमार्ग है, इसलिए उसे निश्चय कहा है; 'शुद्ध' शब्द का अर्थ स्वभाव से अभिन्न, परभाव से भिन्न होता है।

(५) जिस द्रव्य की परिणति हो, उसे उसी का प्ररूपित करना, वह निश्चयनय।

(६) निश्चयनय द्वारा जो निरूपण किया हो, उसे सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान अंगीकार करना।

(७) निश्चयनय यथावत् निरूपण करता है और किसी को किसी में एकमेक नहीं करता।

(८) निश्चय का व्याख्यान 'वह सत्यार्थ ऐसा ही है' ऐसा जानना।

(९) निश्चय को सत्यभूत मानकर 'वस्तु ऐसी ही है' ऐसा श्रद्धान करना।

(१०) वस्तु को यथावत् प्ररूपण करे, उसका नाम निश्चय है।

(मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ७)

(११) स्वभाव से उत्पन्न जो अनन्त ज्ञानादिगुण हैं, उनका आधारभूत निज परमात्मद्रव्य जो उपादेय है, वह निश्चयनय है।

(द्रव्य संग्रह, श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, पृष्ठ २९)

(१२) आत्माश्रित निश्चयनय है। *(समयसार, गाथा २७२)*

(स्व, स्वाश्रय और स्व-स्ववस्तु में अभेदपना है, उसी का कथन करे-जाने वह निश्चयदृष्टि है।)

व्यवहार के अर्थ

३—अब व्यवहार के अर्थ दिये जाते हैं:—

(१) व्यवहार अर्थात् उपचार।

(२) व्यवहारनय सत्यस्वरूप का निरूपण नहीं करता, परन्तु किसी अपेक्षा से उपचार से अन्यथा निरूपण करता है।

(३) द्रव्य के भाव को उपचार से अन्य द्रव्य के भावरूप निरूपित करना, वह व्यवहारनय है।

(४) व्रत-तपादि कुछ मोक्षमार्ग नहीं है, परन्तु निमित्तादि की अपेक्षा से उन्हें व्यवहार कहा है।

(५) एक द्रव्य की परिणति को ही अन्य द्रव्य का प्ररूपित करना, वह व्यवहार है।

(६) व्यवहारनय द्वारा जो निर्णय किया हो उसे असत्यार्थ मानकर (परमार्थ समझकर) उसका श्रद्धान छोड़ देना चाहिए।

(मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ७)

(७) स्वद्रव्य-परद्रव्य को और उनके भावों को तथा कारण-कार्यादि को किसी का किसी में एकमेक करके व्यवहार निरूपण करता है।

(८) व्यवहार की मुख्यता के व्याख्यान को 'ऐसा नहीं है परन्तु निमित्तादि की अपेक्षा से यह उपचार किया है'—ऐसा जानना, सो व्यवहारनय है।

(९) व्यवहार को उपचार मात्र मानकर उसके द्वारा वस्तु का बराबर (परमार्थ) निर्णय करना; परन्तु यदि निश्चय की भाँति व्यवहार को भी सत्यभूत मानकर 'वस्तु ऐसी ही है'—ऐसा श्रद्धान करे तो वह अकार्यकारी है।

(१०) व्यवहारावलम्बी जीव ऐसा मानता है कि 'यथायोग्य व्रतादि क्रिया करना योग्य है परन्तु उसमें ममत्व नहीं करना।' जिसका स्वत: कर्ता होगा उसमें ममत्व कैसे नहीं करे? यदि स्वत: कर्ता नहीं है तो 'मुझे करना योग्य है'—ऐसे भाव किस प्रकार किया? *(मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ७)*

(११) इन्द्रियों के सुखादि परद्रव्य हेय हैं, यह व्यवहारनय है।

(बड़ा द्रव्यसंग्रह, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला मुद्रित पृष्ठ २९)

(१२) पराश्रित=व्यवहारनय *(समयसार, गाथा २७२)*

[व्यवहार अर्थात् निमित्त की मुख्यता से कथन होता है-कार्य नहीं, कार्यरूप तो स्वयं उपादान होने से वही परिणमता है, वही कर्ता है। अत: पर का ग्रहण-त्याग का कथन आता है, उसका अर्थ ऐसा नहीं है।]

४—इससे सिद्ध हुआ कि जीव अँगुली भी ऊपर नहीं उठा सकता। अँगुली की अवस्था अपने पुद्गल के स्वभाव से परिणमित होने योग्य हो, तब एक विकारी जीव की इच्छा वहाँ होती है—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध जानकर जीव ने अँगुली ऊँची की-ऐसा कहा जाता है, जो इस प्रकार कथन पद्धति मात्र है—यथार्थ स्वरूप नहीं है। बृहद् द्रव्यसंग्रह, गाथा ८ की संस्कृत टीका के पृष्ठ १९ में इस सम्बन्ध में निम्न प्रकार लिखा है:—

'परन्तु शुद्ध-अशुद्ध भावों का जो परिणमन है, उसका कर्तृत्व जीव में जानना चाहिए, और हस्तादि के व्यापाररूप परिणमन का नहीं समझना चाहिए।

संस्कृत टीका में उसी पृष्ठ में निम्न प्रकार लिखा है:—

'किन्तु शुद्धाशुद्धभावानां परिणममानानामेव कर्तृत्वं ज्ञातव्यं, न च हस्तादिव्यापाररूपाणामिति।'

५—(१) तत्त्वार्थसूत्र के अध्याय ६ (आस्रव अधिकार) के पाँचवें सूत्र में पच्चीस प्रकार की क्रिया साम्परायिक आस्रव के रूप में बतलायी है; उसकी टीका में कितनी ही शरीर की क्रिया भी बतलायी है। यह भेद व्यवहार से अर्थात् निमित्त से है; उस व्यवहारनय का नाम असद्भूत व्यवहारनय कहा जाता है। जड़ क्रिया स्वत: आस्रव नहीं है परन्तु निमित्त की भाषा है; वह भी असद्भूत (यथार्थ नहीं) ऐसा कहने का आशय है। वास्तव में (निश्चय से) उस क्रिया के पीछे जीव के प्रदेशों का जो कम्पन है, वह आस्रव है। बन्ध तो

अध्यवसाय से होता है। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार का स्वरूप समझना।

(२) 'नय' श्रुतज्ञान का अंश है, सम्यग्दृष्टि के श्रुतज्ञान होता है (मिथ्यादृष्टि के कुश्रुत है), इसलिए नय भी सम्यग्दृष्टि के ही होते हैं, दोनों नय साथ ही होते हैं।

अज्ञानी की निश्चय तथा व्यवहार की समझ का स्वरूप

(३) ज्ञाता तो मोक्षमार्ग को साधना जानते हैं, परन्तु मूढ़ मोक्षमार्ग को साधना नहीं जानते। किसलिए? वह सुनो:—

मूढ़ जीव आगमपद्धति को व्यवहार कहते हैं और अध्यात्मपद्धति को निश्चय कहते हैं, इससे वे आगम अंग को एकान्तरूप से साधकर मोक्षमार्ग दर्शाते हैं, अध्यात्म अंग को व्यवहार से भी नहीं जानते, यह मूढ़दृष्टि जीवों का स्वभाव है। उन्हें इस प्रकार सूझेगा ही कहाँ से? क्योंकि आगम अंग बाह्य क्रियारूप प्रत्यक्ष प्रमाण है, उसका स्वरूप साधना उन्हें सुगम है, वे बाह्य क्रिया करते हुए मूढ़ जीव अपने को मोक्षमार्ग का अधिकारी मानते हैं, परन्तु अन्तर्गर्भित अध्यात्मरूप क्रिया जो अन्तर्दृष्टि ग्राह्य है, उस क्रिया को मूढ़ जीव नहीं जानते; क्योंकि अन्तर्दृष्टि के अभाव से अन्तर क्रिया दृष्टिगोचर नहीं होती; इससे मिथ्यादृष्टि जीव मोक्षमार्ग साधने में असमर्थ हैं। ●

(देखो, बनारसी विलास श्री परमार्थ वचनिका, पृष्ठ २१९)

प्रकरण : १९
जीव की अनादि से चली आ रही भूलें

१—सात भूलों का वर्णनः—

(१) शरीर, सो मैं। (जीवतत्त्व सम्बन्धी भूल)

(२) शरीर की उत्पत्ति से आत्मा का जन्म और शरीर के वियोग को आत्मा का मरण मानते हैं। (अजीवतत्त्व सम्बन्धी भूल)

(३) मिथ्यात्व, रागादि प्रगट दुःख करनेवाले होने पर भी उनका सेवन करने में सुख मानता है। (आस्रवतत्त्व सम्बन्धी भूल)

(४) शुभ बन्ध के फल में रति और अशुभ बन्ध के फल में अरति मानते हैं। (बन्धतत्त्व सम्बन्धी भूल)

(५) आत्मा के हित के लिए सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना और सम्यग्ज्ञानपूर्वक वैराग्य (राग-द्वेष का अभाव) कष्ट देनेवाला मानता है। (संवरतत्त्व सम्बन्धी भूल)

(६) अपनी आत्मशक्ति गँवाकर पाँच इन्द्रियों के विषयों की इच्छाओं को न रोकना अच्छा मानता है। (निर्जरातत्त्व सम्बन्धी भूल)

(७) निराकुलता मोक्षरूप है, ऐसा नहीं मानता। (मोक्षतत्त्व सम्बन्धी भूल, श्री दौलतरामजी कृत छहढाला के आधार से)

२—इन भूलों का मूलकारण मिथ्यादर्शन है और वह अनादि से है, वह किसी के सिखाने से नहीं हुआ है, इसलिए उसे निसर्ग मिथ्यादर्शन भी कहते हैं।

३—जीव और आत्मा का एक ही अर्थ लिया जाता है।

४—इन भूलों को दूर करना, वह सम्यग्दर्शन है। जीव को वह अनादि से प्रगट नहीं हुआ है, इसलिए प्रथम वह गुण प्राप्त करना चाहिए। वह पूर्व में किसी समय प्रगट नहीं हुआ है, इसलिए जब प्रगट होता है, तब वह 'अपूर्व' कहलाता है, उसकी रीति भी अपूर्व होना चाहिए। जीव इस मनुष्य भव में यदि यह कार्य न करे तो उसका संसार (दुःख) रहना ही है।

'संसार' का अर्थ है अपनी शुद्धता में से भलीभाँति च्युत हो जाना / हट जाना; स्त्री, कुटुम्ब, लक्ष्मी या बाह्य की कोई वस्तु संसार नहीं है।

५—इसलिए 'अपना स्वरूप प्रथम समझना' ऐसा अनन्त ज्ञानियों ने कहा है। प्रथम पैरे में कही हुई भूलें दूर हों, तभी जीव सुख प्राप्त करे। श्री आत्मसिद्धि शास्त्र को प्रारम्भ करते ही प्रथम गाथा में निम्न शब्दों में कहा है:—

'जो स्वरूप समझे बिना पायो दुःख अनंत;
समजाय उन पद नमूं श्री सद्गुरु भवगंत॥१॥

स्वरूप न समझने का फल अनन्त दुःख है, इससे ऐसा हुआ कि स्वरूप समझने का फल अनन्त सुख है। ●

प्रकरण : २०
जीव के अनादि के सात व्यसन

१—सात भाव व्यसन जीव को अनादि के हैं, उन्हें दूर करने पर आत्मा जाना जाता है, इसलिए उसका स्वरूप यहाँ लिखा है:—

२— सप्त भाव व्यसनों का स्वरूप

(सवैया इकतीसा)

अशुभ में हारि शुभ जीति यहै दूत कर्म,
देह की मगनताई यहै मांस भखिवौ।
मोह की गहलसौं अजान यहै सुरापान,
कुमति की रीति गनिका कौ रस चखिवौ॥
निरदै ह्वै प्रानघात करवौ यहै सिकार,
परनारी संग परबुद्धि कौ परखिवौ।
प्यार सौं पराई सौंज गहिवेकी चाह चोरी,
एइ सातौं विसन विडारैं ब्रह्म लखिवौ॥२९॥

(देखो, समयसार-नाटक साध्यसाधक द्वार)

३—**अर्थ:**—(१) अशुभ में (पाप में) हार और शुभ में जीत, यह जुआकर्म है। (२) देह को अपना मानकर उसमें लीन रहना, वह माँस भक्षण है। (३) मिथ्यात्व के पागलपन से स्व स्वरूप की अज्ञानता, यह मदिरापान है। (४) कुमति की रीति, वह वेश्या का रस चखना है। (५) स्व के प्रति निर्दय होकर अपना भावमरण करना, वह शिकार है। (६) पर में आत्मबुद्धि रखना, वह पर नारी का संग है। (७) अनुरागपूर्वक पर पदार्थ को ग्रहण करने की अभिलाषा, वह चोरी है; ऐसा समझ लेना।

आत्मस्वरूप को जानने पर इन सात व्यसनों का नाश होता है:—

४—लौकिक सात व्यसन छूट जाएँ, वह शुभभाव हैं, अनेक जीव उन्हें छोड़ते हैं परन्तु यह सात भावव्यसन जीव को अनादि के स्मरणरूप हैं। स्वरूप प्राप्ति वह स्वीकृतरूप (अस्तिरूप) लाभ है और इन भाव व्यसनों का दूर होना, वह अस्वीकृतिरूप (नास्तिरूप) लाभ है। स्व की 'अस्ति' जाने बिना पर (विकार) की 'नास्ति' नहीं होती।

५—इसलिए आत्मा का सर्वोत्कृष्ट प्रथम कार्य सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करना ही है क्योंकि प्रथम मिथ्यात्व जाता है, उसके जाने पर चौथा गुणस्थानक प्रगट होता है, पश्चात् 'अविरति' जाती है, उसके जाने पर आंशिक निश्चय धर्म सहित दो कषाय रहित श्रावकपना प्रगट होता है, पश्चात् स्वसन्मुखता के द्वारा आत्मा विशेष बलवान हो जाए, तब भाव साधुता निर्ग्रन्थदशा होती है, पश्चात् 'कषाय' जाती है, उसके जाने पर पूर्ण वीतरागता प्रगट होती हैं, अन्त में 'योग' (योग अर्थात् आत्मप्रदेशों का कम्पन-परिस्पन्दन) जाने से अयोगी स्वभाव प्रगट होता है, उसका फल सिद्धत्व है। ●

प्रकरण : २१
सत्य पुरुषार्थ

१—आत्मा में 'वीर्य' नामक गुण है, इसलिए जीव अनादि से पुरुषार्थ करता है, परन्तु वह शुभ-अशुभभाव में करता है। इससे ज्ञानी उसे असत्य पुरुषार्थ कहते हैं। जीव, पर का कर सकता हूँ—ऐसा मानकर पुरुषार्थ करता है, वह असत्य पुरुषार्थ है। शरीर पर है क्योंकि वह अनन्त पुद्गलों का पिण्ड है, उसमें जीव का पुरुषार्थ नहीं चल सकता, तथापि उसमें उपाय करना, वह असत्य पुरुषार्थ है; मिथ्यात्व राग-द्वेष टालने योग्य है, इसलिए जो उसे टालने का पुरुषार्थ करता है, उसका पुरुषार्थ सत्य है।

२—श्री प्रवचनसार, अध्याय १ की गाथा ८८ में निम्न प्रकार कहा है:—

'यद्यपि मोह का नाश करने का उपाय जिनेश्वर का उपदेश है, परन्तु उसकी प्राप्ति होने पर भी पुरुषार्थ कार्यकारी है। इसलिए उद्यम को दिखाते हैं:—

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलब्भ जोण्हमुवदेसं।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण॥८८॥

यो मोहरागद्वेषान्निहन्ति उपलभ्य जैनमुपदेशम्
स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन॥८८॥

३—**अर्थः**—जो पुरुष वीतरागप्रणीत आत्मधर्म के उपदेश को प्राप्त करके मोह-राग-द्वेष भावों का घात करता है, वह बहुत ही थोड़े काल में सम्पूर्ण दुःखों से भिन्न (पृथक्) अवस्था को प्राप्त होता है।

भावार्थः—इस अनादि संसार में, किसी प्रकार के, तलवार की

धार के समान जिनप्रणीत उपदेश को प्राप्त करके जो मोह-राग-द्वेषरूप शत्रुओं को मारता है, वह जीव शीघ्र ही सर्व दुःखों से मुक्त होकर सुखी होता है, जिस प्रकार सुभट तलवार से शत्रुओं को मारकर सुख से बैठता है। इससे मैं सर्व प्रकार से उद्यमी होकर मोह का नाश करने के लिए पुरुषार्थ में सावधान होकर बैठा हूँ।

४—श्री मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय ९ में इस सम्बन्ध में निम्नानुसार कहा है:—

प्रश्नः—मोक्ष का उपाय काललब्धि आने से भवितव्य के अनुसार बनता है कि मोहादिक का उपशमादि होने से बनता है, या अपने पुरुषार्थपूर्वक उद्यम करने से बनता है? वह कहो। यदि पहले दो कारण मिलने से बनता है तो आप हमें उपदेश किसलिए देते हो? तथा यदि पुरुषार्थ से बनता है, तो सभी उपदेश सुनते हैं, तथापि उनमें कोई पुरुषार्थ कर सकता है और कोई नहीं कर सकता—उसका क्या कारण है?

मोक्ष साधन में पुरुषार्थ की मुख्यता

(देखो मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय ९)

उत्तरः—एक कार्य होने में अनेक कारण मिलते हैं। मोक्ष का उपाय बनता है, वहाँ तो पूर्वोक्त तीनों कारण मिलते हैं तथा नहीं बनता, वहाँ यह तीनों कारण नहीं मिलते। पूर्वोक्त तीन कारण कहे हैं, उनमें काललब्धि और भवितव्य तो कोई वस्तु ही नहीं है; जिस काल में कार्य बने, वही काललब्धि और जो कार्य हुआ हो, वही भवितव्य। और कर्म के उपशमादिक हैं, वह तो पुद्गल की शक्ति है, उसका कर्ताहर्ता आत्मा नहीं है, तथा पुरुषार्थपूर्वक उद्यम किया जाता है, वह आत्मा का कार्य है; इसलिए आत्मा को पुरुषार्थपूर्वक उद्यम करने का उपदेश देते हैं। जिस कारण से कार्यसिद्धि अवश्य हो, उस

कारणरूप उद्यम यह आत्मा करे, वहाँ अन्य कारण अवश्य मिलते ही हैं और कार्य की सिद्धि भी अवश्य होती है। जिनमत में जो मोक्ष का उपाय कहा है, उससे तो मोक्ष अवश्य होता ही है; इसलिए जो जीव जिनेश्वर के उपदेश के अनुसार पुरुषार्थ पूर्वक मोक्ष का उपाय करते हैं, उनके तो काललब्धि और भवितव्य भी हो चुके हैं तथा कर्म के उपशमादि हुए हैं, तभी तो वे ऐसा उपाय करते हैं, इसलिए जो पुरुषार्थपूर्वक मोक्ष का उपाय करते हैं, उन्हें सर्व कारण मिलते हैं, और अवश्य ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, ऐसा निश्चय जानना। तथा जो जीव पुरुषार्थपूर्वक मोक्ष का उपाय नहीं करता, उसके तो काललब्धि और भवितव्य भी नहीं है और कर्म के उपशमादि नहीं हुए हैं। इसलिए जो पुरुषार्थपूर्वक मोक्ष का उपाय नहीं करता, उसे तो कोई भी कारण नहीं मिलते और इससे मोक्ष की प्राप्ति भी नहीं होती, ऐसा निश्चय करना।

और तू कहता है कि—'उपदेश तो सभी सुनते हैं, तथापि कोई मोक्ष का उपाय कर सकता है और कोई नहीं कर सकता, उसका क्या कारण है? उसका कारण यह है कि—जो उपदेश सुनकर पुरुषार्थ करता है, वह तो मोक्ष का उपाय कर सकता है परन्तु जो पुरुषार्थ नहीं करता, वह मोक्ष का उपाय नहीं कर सकता। उपदेश तो शिक्षा मात्र है; फल तो जैसा पुरुषार्थ करता है, वैसा मिलता है।

५—श्री आत्मसिद्धि शास्त्र में भी वैसा कहा है:—

जो इच्छो परमार्थ तो करो सत्य पुरुषार्थ,
भवस्थिति आदि नाम लई, छेदो नहीं आत्मार्थ ॥१३०॥

इसलिए सुपात्र जीव को आत्मस्वरूप की प्राप्ति और शुद्धता प्राप्त करने के लिए सत्य पुरुषार्थ करना चाहिए। ●

प्रकरण : २२
सम्यक् तप का स्वरूप (१)

१—**करमचन्दः**—मेरा छोटा भाई कहता है कि यदि हम चौबीस घण्टे तक रोटी न खायें, पानी न पियें तो अपने को धर्म हो?

२—**ज्ञानचन्दः**—मेरे बड़े भाई कहते हैं कि वैसा हो ही नहीं सकता। आपने कहा वैसा हो और उसमें शुभभाव रखें तो उस शुभभाव द्वारा पुण्यबन्ध होता है—धर्म नहीं होता; क्योंकि धर्म तो अबन्ध है।

करमचन्दः—परन्तु छोटा भाई कहता है कि—पहले तो मैंने बतलाया था वैसा करें तो तप हो; और तप से निर्जरा हो, ऐसा शास्त्रों में कहा है। इसलिए तुम्हारे बड़े भाई की भूल तो नहीं है न?

ज्ञानचन्दः—मैंने अपने बड़े भाई के साथ इस बात पर बहुत चर्चा की है; वे तो कहते हैं कि तप से निर्जरा होती है, वह बात सत्य है परन्तु वह सम्यक् (यथार्थ) या असम्यक्? ऐसा मुझसे पूछा, तो मैंने विचार करके उत्तर दिया कि वह सम्यक् तप ही होना चाहिए।

करमचन्दः—मेरा छोटा भाई कहता है कि भाई देखो! अपने को भोजन-पानी सब कुछ मिला है और हम स्वतः भोजन-पानी अपनी शक्ति से अपने वश से छोड़ें तो उससे धर्म हो, सम्यक् तप हो। जिसे खाने को न मिले, इससे विवश होकर भोजन न करे तो उसे धर्म नहीं होता।

ज्ञानचन्दः—अरे! मेरे बड़े भाई कहते हैं कि—तप सम्यग्दृष्टि के होता है, दूसरों के नहीं। आपका छोटा भाई जो कहता है, उसे भगवान ने सम्यक् तप नहीं कहा है; और उसकी व्याख्या '**इच्छा**

निरोधः तपः ' ऐसी करते हैं, तथा उसमें वह बात नहीं आती जो आप कहते हैं—इसलिए वह तप नहीं है।

करमचन्दः—मेरा छोटा भाई कहता है कि देखो! उसमें रोटी खाने और पानी पीने की इच्छा रोकी, इसलिए उस व्याख्या के अनुसार तो यथार्थ तप हुआ?

ज्ञानचन्दः—मेरे बड़े भाई कहते हैं कि देखो! उसमें रोटी न खाने की इच्छा की, इसलिए इच्छा तो आयी; इसलिए उसे तप नहीं कहा जाता परन्तु शुभभाव हो तो वह पुण्य कहलाये। मुझे वह बात सत्य प्रतीत होती है।

३—**करमचन्दः**—मेरा छोटा भाई कहता है कि, अरे! यह बात तो केवलियों को लागू होती है, हम अपूर्ण प्राणियों को लागू हो सकती है?

ज्ञानचन्दः—मेरे बड़े भाई कहते हैं कि केवली के तप नहीं होता। तप तो साधक—अपूर्ण दशा में होता है।

करमचन्दः—तब फिर अपूर्णदशा में शुभ और अशुभ दोनों इच्छाएँ कैसे रुकें? यह तो समझ में नहीं आता।

ज्ञानचन्दः—मैं अपने बड़े भाई से पूछकर, बराबर समझकर फिर आपको उत्तर दूँगा। हम लोगों ने आज सुन्दर चर्चा की है; आप कहोगे, तब फिर मिलेंगे। ऐसा कहकर दोनों चल गये।

प्रसंग - दूसरा

(दोनों मित्र फिर मिलते हैं)

४—**करमचन्दः**—क्यों भाई! तप सम्बन्धी चर्चा आगे चलाना है? आपने अपने भाई के पास बराबर समझ लिया है?

ज्ञानचन्दः—हाँ, लेकिन अपना विषय आगे चलाने से पहले

मुझे आपसे दूसरा कुछ जानना है, इसलिए आप कहो तो पूछूँ।

करमचन्दः—खुशी से पूछिये!

ज्ञानचन्दः—आप तो बड़े हो, फिर अपने छोटे भाई से आप धर्म की बातें क्यों पूछते हैं?

करमचन्दः—मेरा छोटा भाई उत्साही युवक है और वह धर्म संगठन में विश्वास रखता है, धर्म की जानकारी भी उसे है—ऐसी उसकी समाज में प्रतिष्ठा है और वह बुद्धिमान है। उसकी उम्र छोटी है, यह बात सच है, परन्तु आयु का बुद्धिमत्ता के साथ सम्बन्ध नहीं है, इसलिए मैं उससे पूछताहूँ।

ज्ञानचन्दः—आपका कहना ठीक है; अब अपने विषय को आगे चलाइये!

५—**करमचन्दः**—साधक अवस्था में शुभ और अशुभ इच्छा कैसे दूर होती होगी? यह आप मुझे समझाइये।

ज्ञानचन्दः—देखो भाई! भगवान ने कहा है कि—'सर्व जीव सिद्धसम, जो समजे वह होत।' इससे ऐसा निश्चित हुआ कि प्रथम, जीव स्वतः 'शक्तिरूप से सिद्ध सम' किस प्रकार है—उसे समझना चाहिए, जो समझ ले, वह प्रथम श्रद्धा में और पश्चात् चारित्र में 'इच्छा रहित' हो जाए।

करमचन्दः—ठीक, लेकिन इस वस्तु का स्पष्टीकरण होना आवश्यक है, क्योंकि आपने कहा उसमें भी जीव को अपना स्वरूप समझने की इच्छा करना तो आया?

ज्ञानचन्दः—सुनो भाई! इच्छारहित होने की रीति आपसे कहूँ। वह रीति यह है कि—जब जीव अपना ज्ञानमय स्वरूप तीनों काल इच्छारहित सुख से पूर्ण है, उसे समझने के लिए पुरुषार्थ करे, तब प्रथम राग (-इच्छा) आता है। परन्तु जीव को 'मेरा नित्य स्वरूप

चेतनामय है और इच्छा मेरा स्वरूप नहीं है'—ऐसा निश्चित करना चाहिए; वह निश्चित करने से रागमिश्रित विचार आते हैं परन्तु राग मेरा कार्य नहीं है, न करने योग्य है और वह राग मेरा नहीं है—ऐसी प्रतीति की, इसलिए स्वतः अंशतः विमुख हो सकता है।

६—**करमचन्दः**—यह ठीक है, किन्तु इच्छा मेरा स्वरूप नहीं है—इतना ही निश्चित करे तो चले या नहीं?

ज्ञानचन्दः—नहीं चल सकता; क्योंकि अपना 'स्वीकृत' [Positive] स्वरूप जब तक समझ में न आये, तब तक 'अस्वीकृत' [Negative] स्वरूप समझ में नहीं आता; उसे दूसरे प्रकार से कहें तो जब तक जीव अपना 'अस्ति' स्वरूप न जाने, तब तक 'नास्ति' स्वरूप यथार्थतया नहीं जानता। यथार्थ जानने से 'अस्ति-नास्ति' बराबर समझ में आते हैं और जब तक दोनों पक्ष समझ में नहीं आते, तब तक अपना अस्तित्व बराबर समझ में नहीं आता और न स्वसन्मुख हो सकते।

७—**करमचन्दः**—इस बात को मैं स्वीकार करता हूँ, लेकिन उसमें 'इच्छा निरोध' किस प्रकार हुआ?

ज्ञानचन्दः—वह इस प्रकार हुआ कि—जिसने अपना त्रैकालिक स्वतन्त्र अस्तित्व निश्चित किया, उसने ऐसा निश्चित किया कि मैं अपनेरूप हूँ और पररूप नहीं हूँ। जीव का अपना रूप वह चैतन्य -स्वभाव है—ऐसा वह समझ ले, तब स्वतः पररूप नहीं है अर्थात् जड़रूप नहीं है; 'इच्छा' रूप नहीं है, ऐसा भी निश्चित किया।

करमचन्दः—आपकी यह बात सत्य है, किन्तु उसमें भी इच्छा का अस्तित्व तो है?

ज्ञानचन्दः—भाई! आपका प्रश्न बराबर है, परन्तु मैंने अपना कथन पूर्ण नहीं किया है, आपको शंका हुई और प्रश्न पूछा, वह बराबर है, परन्तु यदि मेरा कथन क्रमशः सुनोगे तो उसमें तुम्हारी बात

का स्पष्टीकरण आ जाएगा, इसलिए अब मैं अपना विषय आगे चलाऊँ?

करमचन्दः—भाई! अब समय हो चुका है, कल फिर मिलेंगे।

ज्ञानचन्दः—अच्छी बात है, जब समय मिले, तब चर्चा करेंगे।

[दोनों चले जाते हैं]

प्रसंग-तीसरा

[दोनों मित्र फिर मिलते हैं]

८—**करमचन्दः**—भाई! अपना सम्यक् तप का विषय आज आगे चलाइये।

ज्ञानचन्दः—अच्छी बात है, मैं कहूँ उसे बराबर ध्यान में रखना। मैंने तुम्हें पहले कहा था कि—जीव को अपना 'अस्ति' और 'नास्ति' स्वरूप प्रथम निश्चित करना चाहिए, और अपना अस्तिस्वरूप निश्चित करने से 'इच्छा' मेरा स्वरूप नहीं है, वह क्षणिक है, उसे त्रैकालिक अरागस्वरूप के आश्रय द्वारा दूर करने से ही दूर हो सकती है; इस प्रकार प्रथम रागसहित विचार में ज्ञानस्वरूप को निश्चित करते हैं, पश्चात् जीव जब अपना उपयोग परद्रव्य, भेद और रागादि पर के ऊपर से हटाकर अपने त्रिकाली 'अस्ति' स्वरूप की ओर उन्मुख करता है, तब उसे अपने स्वरूप की प्रतीति प्रगट होती है, और मैं त्रिकाली शुद्ध अखण्ड चैतन्यस्वरूप हूँ, ऐसी भावभासनरूप दृढ़ प्रतीति होने से राग (इच्छा) होने पर भी उस पर का स्वामित्व अभिप्राय में से निकल जाता है। क्यों समझे?

करमचन्दः—हाँ; विचार करने से यह बात समझ में आती है, और मैं उसे सत्य मानकर स्वीकार करता हूँ। अब, आगे कहिये।

९—**ज्ञानचन्दः**—ऊपर कहे अनुसार जिस जीव को यथार्थ प्रतीति होती है, वह जीव अपनी प्रतीति का अधिकाधिक मंथन करता रहता है, तब उसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। वैसे सम्यग्दृष्टि जीव को गृद्धिता नहीं होती और वह प्रतिसमय परावलम्बन को दूर करने के लिए तत्पर रहता है। इसलिए शक्ति के अनुसार तप करने का विचार करके चौबीस घण्टे तक आहार न लेने की प्रतिज्ञा भी करता है, उस समय उसकी मान्यता निम्नानुसार होती है:—

(१) आहार न लेने का जो रागमिश्रित विचार आता है, वह शुभभाव है और उसका फल पुण्यबंध है। वह हेय होने से, पर होने से मैं उसका स्वामी नहीं हूँ।

(२) आहार-पानी परवस्तु होने से उसे छोड़ना या त्यागना, वह मेरा अधिकार नहीं है परन्तु जब सम्यग्दृष्टि, चारित्र में बलवान होता है, तब परवस्तु के प्रति आलम्बन छोड़ना निश्चित करता है, तब निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध (पुद्गलपरावर्तन के नियमानुसार) ऐसा होता है कि उतने समय तक उसे आहार-पानी का संयोग नहीं होता। आहार-पानी का संयोग नहीं हुआ, इससे धर्म भी नहीं होता और बन्ध भी नहीं होता।

(३) राग के अस्वामित्व का मेरा जो अभिप्राय है, वह दृढ़ होता है; और इससे जो आहारादि लेने का अशुभराग सच्चे अभिप्रायपूर्वक दूर किया, वह धर्म का अंश है अर्थात् वीतरागता का अंश है; और आहार न लेने के शुभ विकल्प का स्वामित्व नहीं है। अंश है, इसलिए उतने अंश में शुभाशुभ इच्छा का निरोध हुआ, उतना भाव सम्यक् तप है।

१०—**करमचन्दः**—आपने जो कहा, वह वस्तु गहरा मंथन चाहती है। मनन करने का मुझे अभ्यास है, इसलिए मैं बराबर मनन करूँगा। यह बात बराबर है या नहीं, उसकी परीक्षा करके निश्चित कर लेना चाहता हूँ।

ज्ञानचन्दः—आपकी इस बात का मैं अनुमोदन करता हूँ, क्योंकि भगवान की आज्ञा भी ऐसी ही है कि जो कोई तत्त्व की बात प्रतिपादन करे, उसका सभी पक्षों से विचार करके, परीक्षा करके, निर्णय करे, तभी जैनधर्म का यथार्थ स्वरूप समझ में आता है; इसलिए आप बराबर विचार करके अपना निर्णय बतलाना। हम फिर मिलेंगे।

(ऐसा कहकर दोनों चलते हैं)

प्रसंग-चौथा

११—**करमचन्दः**—भाई! आपने कहा, वह मैंने अच्छी तरह सोच-विचार लिया है, बिल्कुल ठीक मालूम होता है। सर्व प्रकार की इच्छा का स्वामित्व अभिप्राय में से निकल गया होने से चारित्र के दोष जितनी इच्छा रही थी; उससे आहार-पानी न लेने की प्रतिज्ञा द्वारा जो शुभविकल्प हुआ, उसकी जो अस्वीकृति वर्त रही है और जो आहार लेने के अशुभभाव को रोका, उस शुभाशुभ इच्छा का अंशतः निरोध हुआ और इससे वह सम्यक् तप हुआ, ऐसा बराबर समझ में आ गया, परन्तु एक प्रश्न उठता है कि:—'फिर शास्त्र में बारह प्रकार के तप क्यों कहे?'

ज्ञानचन्दः—शास्त्र का कथन उपादान और निमित्त इन दो अपेक्षाओं से होता है। निमित्त पृथक्-पृथक् होने से निमित्तों में भेद होता है, परन्तु उपादान तो आत्मा का शुद्धभाव होने से उसमें भेद नहीं पड़ता; इसलिए निमित्त की अपेक्षा से यह बारह भेद व्यवहार शास्त्रों में बताये जाते हैं।

१२—**करमचन्दः**—तब निश्चय शास्त्र में सम्यक्तप का स्वरूप कैसा कहा है?

ज्ञानचन्दः—श्री प्रवचनसार गाथा १४ की टीका में उसकी व्याख्या निम्नानुसार की है:—

स्वरूप विश्रान्तनिस्तरंग चैतन्यप्रतपनात् सः तपः।

अर्थः—स्वरूप की स्थिरतारूप निस्तरंग (तरंगरहित, निर्विकल्प) चैतन्य का प्रतपन (दैदीप्यमान होना) तप है। इसलिए वही यथार्थ तप है।

ज्ञानचन्दः—प्रारम्भ में प्रश्न करते हुए आपने पूछा था कि स्व-वश से हम आहार को छोड़ते हैं, इससे यदि हम आत्मा का स्वरूप न जानते हों तो भी निर्जरा क्यों न होगी? उसका स्पष्टीकरण भी गर्भित रीति से आ गया—यह आप समझे हैं?

करमचन्दः—वह वस्तु अधिक स्पष्टीकरण चाहती है।

ज्ञानचन्दः—अच्छा, तब फिर हम इस विषय पर चर्चा करेंगे, ऐसा कहकर दोनों चल दिये। ●

सम्यक् तप का स्वरूप (२)

१—**करमचन्दः**—हमने पहले सम्यक् तप के सम्बन्ध में चर्चा की थी, तब निम्न विषय उसमें आये थे:—

(१) अपनी शक्ति से हम आहारादि को छोड़ें तो वह स्व-वश से छोड़े कहलायेंगे या नहीं?

(२) अस्ति-नास्ति का स्वरूप समझे बिना जीव का स्वरूप यथार्थ समझ में नहीं आता।

(३) सम्यग्दृष्टि के ही यथार्थ तप होता है।

(४) तत्त्व की बात का प्रतिपादन हो, तब उसका सब पक्षों से

विचार करके निर्णय करे, तभी धर्म का यथार्थ स्वरूप समझ में आता है।

(५) निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध को समझना चाहिए।

(६) शास्त्रों का अर्थ करने की पद्धति जानना चाहिए।

इन विषयों में से पहले विषय सम्बन्धी अधिक स्पष्टता की आवश्यकता है, ऐसा मैंने कहा था। मैंने उस सम्बन्ध में कितने ही विचार किये हैं, तब भी यदि आपके साथ चर्चा हो तो विशेष स्पष्टता हो, ऐसा मैं मानता हूँ; इसलिए यदि आपकी सम्मति हो तो उस विषय को ले लें।

ज्ञानचन्दः—आप इस विषय में रुचिपूर्वक विचार करते हो; इसलिए आपको जो पूछना हो, वह खुशी से पूछ लो।

करमचन्दः—अपने को रोटी-पानी सब कुछ मिला है, और उसे हम अपनी शक्ति से छोड़े तो वह स्व-वश से छोड़ा हुआ क्यों नहीं कहलायेगा ?

ज्ञानचन्दः—आप ऐसा कहना चाहते हैं कि—हम आहार लेने का सोच रहे हों और दूसरा कोई अड़चन डाले और आहार न ले सकें तो परवश आहार छोड़ा कहलाये; किन्तु अपने को आहार की योग्य व्यवस्था हो, शरीर स्वस्थ हो और आहार एक दिन न लेने का नियम लें तो स्व-वश आहार न लिया कहलायेगा, यह बात ठीक है।

करमचन्दः—हाँ, ठीक, मैं यही कहना चाहता हूँ। चौबीस घण्टे आहार न लेने का निश्चय करें, जैनधर्मी कुटुम्ब में जन्म लिया है, धर्म स्थान पर जाकर गुरु के पास से प्रतिज्ञा लें तो उपवास किया कहलाता है, और उसे लोग तप तथा निर्जरा कहते हैं। बहुत उपवास करनेवाले को लोग तपस्वी कहते हैं; वह सब स्व-वश से होने से निर्जरा होती है, ऐसा बहुत लोग मानते हैं।

मैंने उस सम्बन्ध में कोई विचार नहीं किया है; अब मैं उस सम्बन्ध में मनन करके निर्णय करना चाहता हूँ; इसलिए यह बतलाइये कि 'स्व-वश' क्या कहलाता है ?

ज्ञानचन्दः—देखो भाई! आप कहते हो, वैसे उपवास और नियम तो प्रत्येक सम्प्रदाय में होते हैं, परन्तु उन्हें तो निर्जरा नहीं होती, ऐसा आप पहले कहते थे, तब फिर जैनधर्मी कुटुम्ब में हमने जन्म लिया है और वैसे उपवास करने से तप-निर्जरा होती है-ऐसा मानना न्यायविरुद्ध है।

करमचन्दः—यह बात बराबर है—ऐसी मान्यता तो न्यायविरुद्ध है, इसलिए यथार्थ स्वरूप बतलाओ।

३—**ज्ञानचन्दः**—देखो भाई! 'स्व-वश' शब्द स्व+वश का बना हुआ है। 'स्व' का अर्थ स्वतः है, और स्वतः तो आत्मा है। इसलिए आत्मा को प्रथम जाने, वही अपने 'वश' वर्त सकता है। इससे सिद्ध हुआ है कि आत्मज्ञानी को ही सम्यक्तप हो सकता है। आत्मा को न जाने और जानने का प्रयत्न न करे; उसे सम्यक् उपवास या तप कैसे हो सकता है ? आत्मा को न जानता हो, उसे मन्द कषाय के हेतु से उपवास नहीं करना चाहिए—ऐसा कहने का हेतु नहीं है; तीव्र कषाय के बदले मन्द कषाय यह तो अल्प विकार है, इससे उसका निषेध करके तीव्र कषाय करो और गृद्धिता बढ़ाओ—ऐसा कहने का तात्पर्य हो ही नहीं सकता। मन्द कषाय के भाव को धर्म न मानना—इसलिए विपरीत अभिप्राय को—विपरीत मान्यता को बदलकर सच्ची मान्यता करने के लिए यह कहा जाता है।

करमचन्दः—शुभभाव छोड़कर पापभाव करने को अथवा गृद्धिता बढ़ाकर आहार में लीन होकर अशुभ में जाने के लिए आप कहते हो, यह तो हो ही कैसे सकता है ? आप जो कहोगे, उस पर मैं सूक्ष्मता से मनन करूँगा, इतना आपको विश्वास देता हूँ; और आप तो कहते

हो कि यह बात मैंने कही, इसलिए सच्चा मानना, यह तो परतन्त्रदशा कहलायेगी और मैं तो स्वतन्त्रता का उपासक हूँ, इसलिए आपकी बात की पूरी-पूरी तुलना करके परीक्षा करके सत्य लगे, तभी मैं ग्रहण करूँगा, नहीं तो पूछूँगा। (वैज्ञानिक रीति से) धर्मदृष्टि का मैं अभ्यासी होना चाहता हूँ।

ज्ञानचन्दः—आपकी जिज्ञासा अनुमोदन की पात्र है। संसारी कार्य परीक्षा के बिना नहीं किये जाते, तब फिर धर्म के सिद्धान्त तुलना किये बिना ग्रहण कर लेना वह बुद्धिमत्ता तो नहीं है परन्तु भगवान की आज्ञा के विरुद्ध है। अब समय हो चुका है, इसलिए अब फिर मिलेंगे, तब इस विषय पर चर्चा होगी।

(दोनों मित्र चले गये)

प्रसंग-दूसरा

(दोनों मित्र फिर मिलते हैं)

४—**करमचन्दः**—अपना विषय आज आगे चलाना है?

ज्ञानचन्दः—भले, मैंने आपसे 'स्व-वश' शब्द का अर्थ कहा था और बतलाया था कि उसका अर्थ अपने आत्मा के वश—ऐसा होता है। जो जीव आत्मा को ही न जाने, वह स्ववश होगा ही कहाँ से? यह तो प्रगट दिखायी ही देता है कि जो अपने आत्मा को न पहिचानता हो, वह मिथ्याभाव के वश होता ही है। उसे तत्त्व की यथार्थ खबर नहीं है, इससे उसे अपने स्वरूप की मिथ्या (विपरीत) मान्यता होती ही है। इसलिए उसका कोई कार्य 'स्व-वश' है ही नहीं। उसका प्रत्येक कार्य मिथ्याभाव के वश होने से वह 'परवश' है। विपरीत मान्यता के वश होना, वही सबसे बड़ी 'परवशता' है।

यह स्वरूप समझ में न आये, वहाँ तक परवशता नहीं मिटती और इससे सम्यक् उपवास या तप नहीं होता।

५—**करमचन्दः**—तब फिर प्रश्न यह है कि जो मनुष्य आत्मा का यथार्थ स्वरूप न जानता हो, वह उपवास करे तो उसका क्या फल आयेगा?

ज्ञानचन्दः—फल का आधार आत्मा के परिणामों पर है, इससे यदि उपवास करने में मन्दकषाय हो—शुभभाव हो तो पुण्यबन्ध होगा और अशुभभाव हो तो पापबन्ध होगा, परन्तु इतना लक्ष्य में रखना है कि पुण्य और पाप के जो भेद पड़ते हैं, वे जो बाह्य संयोग भविष्य में जीव को मिलते हैं, उनमें भेद होने से पड़ते हैं परन्तु आत्मा का निजगुण दर्शन-ज्ञान, चारित्र (सच्ची मान्यता, सच्चा ज्ञान और सच्ची स्थिरता) तो शुभ और अशुभ दोनों भावों से नष्ट होता है।

करमचन्दः—उपवास करने में अशुभभाव होता है?

ज्ञानचन्दः—हाँ, किसी के होता अवश्य है; जैसे—एक मनुष्य को खबर हुई कि उपवास करनेवाले को बड़ी मूल्यवान चीज़ बाँटी जावेगी, उसे ऐसा भाव आया कि यदि मैं उपवास करूँ तो मुझे भी मिलेगी, और धर्मी भी कहलाऊँगा। ऐसे भाव से जो उपवास करे, उसे अशुभभाव है या नहीं? वह आप ही कहो!

करमचन्दः—बराबर, क्योंकि उसने तो लोभ का पोषण किया। उपवास धर्म के लिए नहीं है, परन्तु परिग्रह और बड़प्पन बढ़ाने के लिए किया है; इसलिए वह अशुभभाव है। तब फिर प्रश्न यह उठता है कि एक दिन उपवास किया, इससे आहार नहीं लिया, उसका क्या फल?

ज्ञानचन्दः—आहार तो परवस्तु है। परवस्तु के संयोग या वियोग से धर्म या अधर्म—लाभ या हानि कुछ नहीं होता। अपने परिणाम

से ही लाभ-हानि होती है। नैमित्तिकरूप अपने परिणाम कैसे हैं? वह जानना चाहिए।

७—**करमचन्दः**—भगवान ने श्रावक को चार आवश्यक क्रियाएँ 'दान-शील-तप और भाव' कही हैं तो फिर उसका क्या?

ज्ञानचन्दः—भगवान ने श्रावक किसे कहा है, यह आप जानते हैं?

करमचन्दः—मैंने उस सम्बन्ध में कुछ भी निर्णय नहीं किया है परन्तु दूसरों से सुना है कि हमने जैन कुटुम्ब में जन्म लिया है, भगवान महावीर को मानते हैं, जैन समाज में रह रहे हैं और भगवान ने कहा है, वह सत्य है—ऐसा मानते हैं; इसलिए श्रावक तो हैं।

ज्ञानचन्दः—जो आपने सुना है, वह मैंने भी बचपन में उपदेशकों से सुना था, परन्तु वह मान्यता भूलयुक्त है—ऐसा सूक्ष्म आत्मज्ञानी उपदेशकों का उपदेश सुनने से मुझे ज्ञात हुआ। आप कहते हो, उसे लोग श्रावक कहते हैं—परन्तु वीतराग तो कहते हैं कि अपने आत्मा के यथार्थ स्वरूप की जानकारी हुई हो और वैसी समझपूर्वक गृहस्थ अवस्था में अमुक अंश में स्वावलम्बन की निर्मलता की उत्पत्तिपूर्वक ही परावलम्बन का राग यथाशक्ति अंशतः छोड़े, वह श्रावक कहलाता है। दूसरों का नाम श्रावक कहने में हानि नहीं है।

करमचन्दः—परन्तु जैन कुटुम्ब में जन्म लिया, उसका क्या?

ज्ञानचन्दः—कुटुम्ब का धर्म के साथ सम्बन्ध नहीं है। कुटुम्ब तो परवस्तु का संयोग है और धर्म तो अपने आत्मा का स्वभाव है।

८—**करमचन्दः**—परन्तु भगवान महावीर को और उन्होंने जो कहा, वह सत्य है—ऐसा तो हम मानते हैं, उसका क्या?

ज्ञानचन्दः—भगवान महावीर को तुम नाम से मानते हो या उनके गुणों से? यदि तुम गुण से मानते हो तो बतलाओ कि उन्हें

सम्यग्दर्शन गुण किस प्रकार प्रगट हुआ था?

करमचन्दः—यह तो मैं नहीं जानता परन्तु उन्हें केवलज्ञान था ऐसा जानता हूँ।

ज्ञानचन्दः—केवलज्ञान के यथार्थ स्वरूप की यदि तुम्हें खबर हो तो उसे संक्षेप में कहो।

करमचन्दः—यह तो मैं नहीं जानता। भगवान केवलज्ञानी थे—ऐसा सभी कहते हैं, इसलिए मैं भी कहता हूँ।

ज्ञानचन्दः—लोगों में केवलज्ञान का स्वरूप कितने जानते हैं? यह तुमने निश्चित किया है? या जैसा दूसरे कहते हैं, वैसा ही तुम कहते हो?

करमचन्दः—मैंने वह निश्चित नहीं किया है। निश्चित किये बिना दूसरों के कहे अनुसार कह देना और अर्थ न समझना वह तो दोष है—ऐसा विचार करने से ज्ञात होता है। जैसा आप कहते हैं, उस प्रकार तो हम भगवान महावीर के स्वरूप को नहीं जानते और न उनके कहे हुए धर्म के स्वरूप को ही जानते हैं; जब तक मैं उनके स्वरूप को नहीं जानूँगा, तब तक यथार्थ अनुयायी नहीं कहलाऊँगा। आज की चर्चा बहुत अच्छी रही; अब कल इसी समय फिर मिलेंगे।

ज्ञानचन्दः—अच्छी बात है, समय भी हो चुका है; आप कहोगे, तब फिर मिलेंगे।

(दोनों मित्र चल देते हैं।)

●

प्रकरण : २३
दया, दानादि का वास्तविक स्वरूप

१—**करमचन्दः**—'स्व-वश' और 'पर-वश' के सम्बन्ध में आत्मधर्म में विवेचन किया है; इससे मेरी समझ में आ गया है कि 'स्व-वश' का अर्थ होता है आत्मा के वश में; अर्थात् आत्मा के शुद्धस्वभाव के वश में हो, वह 'स्व-वश' और राग के वश में हो, वह 'पर-वश' है। इन विषयों पर चर्चा हो चुकी है; अब दूसरे विषय को लें तो?

ज्ञानचन्दः—जैसी आपकी इच्छा; मुझे कोई अड़चन नहीं है।

२—**करमचन्दः**—मैं कुछ समय पहले एक सभा में गया था; वहाँ एक भाई ने भाषण दिया कि—'गरीबों को दान देना, वह धर्मानुष्ठान है।' आपका इसमें क्या मत है?

ज्ञानचन्दः—उसमें आपको शंका क्यों हुई?

करमचन्दः—मैंने इस विषय में विचार किया कि यह जीव अनादि से है, उसने इतने दीर्घकाल में करुणाभाव से दान न दिया हो, यह कैसे हो सकता है? और उस समय 'धर्म' नहीं हुआ, तब फिर इस समय धर्म कैसे होगा? ऐसे विचार आये, परन्तु कुछ निर्णय नहीं हुआ; इसलिए आपसे पूछता हूँ।

ज्ञानचन्दः—दान देने में यदि शुभ परिणाम हों तो पुण्य होता है; धर्म नहीं होता।

करमचन्दः—आप पुण्य कहते हो, उसका क्या कारण?

ज्ञानचन्दः—देखो! सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना जीव ने पूर्व में

अनन्त बार महाव्रतों का पालन किया, उनमें अतिचार नहीं आने दिया, तथापि धर्म नहीं हुआ; पुण्य हुआ, और उसके फलस्वरूप देवगति मिली; यह आपने सुना है?

करमचन्दः—हाँ, मैंने वह सुना है। तब क्या आप यह कहना चाहते हो कि पुण्य है, वह धर्म नहीं है?

ज्ञानचन्दः—पुण्य को लोग धर्म कहते हैं और मानते हैं; इसलिए उसे रूढ़ि से—'लौकिक धर्म' कहना हो तो कहो, परन्तु वह 'सत्य धर्म' नहीं है।

करमचन्दः—भले ही वह सत्यधर्म न हो परन्तु धर्मानुष्ठान तो है न?

ज्ञानचन्दः—भाई! वह धर्मानुष्ठान है या नहीं, उस पर हम लोग विचार करें। 'धर्मानुष्ठान' शब्द तीन पद का बना हुआ है; वह निम्नानुसार है:—

धर्म+अनु+स्थान=धर्म का अनुसरण करके आत्मा में स्थिर रहना। अब, आपको तुरन्त ही ध्यान में आयेगा कि यदि उस भाव से धर्म का अंश हो तो जीव में आज शुद्धता के अधिक अंश प्रगटरूप से देखने में आयें अथवा तो सम्पूर्ण पवित्र दिखायी दे। धर्म का एक अंश भी जिसे प्रगट हो जाए, उसे क्रमशः सम्पूर्ण धर्म प्रगट हुए बिना न रहे और यदि दान से धर्म होता हो तो गरीब धर्म नहीं कर सकेंगे, क्योंकि उनके पास पैसा तो नहीं है; और ऐसा होने से, धर्म पैसेवालों के ही लिए है—ऐसा हो जाए—परन्तु वैसा नहीं है क्योंकि 'धन' तो परवस्तु है, परवस्तु द्वारा आत्मा का धर्म होता ही नहीं।

३—**करमचन्दः**—गरीब पैसा न दे सके तो कोई बात नहीं; दूसरा दे, उसका अनुमोदन करे; गरीब को उस प्रकार धर्म हो। करना-कराना और अनुमोदन करना, चाहे जो भाव हो, तथापि समान लाभ माना जाता है, इसलिए गरीब उस प्रकार 'धर्म' कर सकता है।

ज्ञानचन्दः—उसका अर्थ ऐसा हुआ कि पर के आधार से धर्म होता है अर्थात् पैसे द्वारा (जो वस्तु जीव से पर है, उसके आधार से) धनवान को धर्म हो, और गरीब है, वह ऐसे अवसर की राह देखे—उसका अनुमोदन करे—अर्थात् धनवान पैसे के आधार से धर्म करें और गरीब उनका दान देखें, तब अनुमोदन करें, इससे धर्म हो—ऐसा सिद्धान्त हो तो धर्म जड़-परवस्तु के अधीन हो जाए, परन्तु धर्म तो आत्मा का (अपना) स्वभाव है, अपना स्व (स्वतः का) भाव तो अपने में होता है, इसलिए अपना शुद्ध स्वभाव, वह धर्म कहलाता है। इसलिए जीव प्रथम अपने स्वभाव की जानकारी बराबर करे तो वह धर्म प्रगट कर सकता है; उसके बिना कभी धर्म नहीं होता।

४—**करमचन्दः**—बराबर। धर्म आत्मा का स्वभाव है, वह बात तो सत्य है। वे भाषणकर्ता भी 'धर्म' की वैसी ही व्याख्या करते थे, परन्तु वे कहते थे कि हम दान दें, सेवा करें, तो वह पुण्य है; और वह धर्म को प्रेरित करता है, इसलिए उसे सत् अनुष्ठान कहते हैं—सहायक कहते हैं। इस विषय में आपका क्या कहना है?

ज्ञानचन्दः—यदि वह भाव, धर्म को प्रेरित करता हो तो धर्म का अनन्तवावँ भाग भी प्रगट होना चाहिए; और यदि उससे अनन्तवाँ भाग भी प्रगट होता हो तो ज्यों-ज्यों दान, सेवा आदि हम बहुत करेंगे, त्यों-त्यों वे दान, सेवादि धर्म को प्रेरित करते रहेंगे और धर्म में वृद्धि होती जाएगी; परन्तु वैसा तो नहीं होता। कितने ही मनुष्य ऐसे होते हैं कि जो अपना नाम प्रगट किये बिना ही गरीब आदमियों को दान देते रहते हैं, सेवा करते हैं, दया पालन करते हैं, तथापि उन्हें आत्मस्वरूप की कुछ भी खबर नहीं होती; इस प्रकार उन्हें पुण्यभाव, धर्म का प्रेरक या सहायक नहीं होता, तो दूसरों को कैसे हो?

करमचन्दः—उसका क्या कारण है?

ज्ञानचन्दः—करुणाभाव तो रागभाव है। राग किसी भी जाति

का हो—दोष है। शुभराग है, वह भी अशुद्धभाव है-विकार है। विकार करते-करते अविकारीपना प्रगट हो, ऐसा तो कभी हो ही नहीं सकता परन्तु त्रैकालिक अविकार के आश्रय से ही विकार को दूर करते-करते अविकारीपना प्रगट होता है, यह ही नियम है।

५—**करमचन्दः**—आपने जो कहा, वह मैं समझा। पाप दूर करके पुण्य करना, वह पाप की अपेक्षा श्रेष्ठ है, क्योंकि उसमें मन्दकषाय है परन्तु वह आत्मा के धर्म की अपेक्षा अच्छा नहीं है, क्योंकि वह मन्दकषाय भी विकार है; और जो विकार है, वह अविकार को प्रेरित ही नहीं करता या सहायक ही नहीं होता—ऐसा आप कहना चाहते हैं; उसे मैं स्वीकार करता हूँ।

ज्ञानचन्दः—ठीक; पुण्य है, वह धर्म नहीं है—ऐसा कहने में पुण्य का स्वरूप समझाया है। इसका यह अर्थ नहीं है कि—जो शुद्ध स्वभाव को समझे किन्तु एकदम उसे अमल में न ला सके तो उसे पुण्य छोड़कर पाप करना। इसका तो यह अर्थ है कि—पाप कभी नहीं करना चाहिए। जब तक वीतराग न हुआ जा सके, तब तक मुमुक्षु जीव को जो राग रहा है, वह सत्देव, सत्गुरु, सत्शास्त्र तथा करुणाभाव की ओर उन्मुख हुए बिना नहीं रहेगा परन्तु वह जीव, राग को 'धर्म' कभी नहीं मानेगा; उसे वह धर्म मानता ही नहीं। इससे वह शुभभावों को दूर करके शुद्ध में जाने का प्रयत्न करके क्रमशः पूर्ण शुद्धता प्रगट करेगा। अब कहो कि जो जीव यथार्थ स्वरूप को समझे वह लोभ को कम करेगा या नहीं?

करमचन्दः—अवश्य ही वह लोभ को कम करेगा; लोभ कम करने का भाव उसे आयेगा ही। उसके परिणाम से दान हुए बिना नहीं रहेगा, और दूसरे को स्वतः दान देता है—ऐसा अभिमान उसे नहीं होगा। जितने अंश में अपने में सुधार हुआ, उतने अंश में स्वतः अपने को दान दिया—ऐसा वह मानेगा। क्यों बराबर है न?

ज्ञानचन्दः—हाँ, वह बराबर है, परन्तु इतना ही नहीं, जीव का यथार्थ स्वरूप समझनेवाला तो ऐसा मानता है कि—पैसा है, वह मेरा नहीं है, जड़ है; मैं उसका स्वामी नहीं हूँ, मैं उसे किसी को नहीं दे सकता या ले भी नहीं सकता। परन्तु मेरी जो उस पर आसक्ति है, वह मुझे दूर करना ही चाहिए, और वह आसक्ति दूर करने के समय पैसा तो जिस जगह जाने योग्य है, उस जगह अपने कारण से गये बिना नहीं रहेगा। मैंने जड़ का दान किया—ऐसा मानूँ तो जड़ का स्वामी हो जाऊँ; इसलिए वैसा नहीं है। मैंने तो अपने लाभ के लिए अपना लोभ कम किया है, उसका मेरा स्वयं पर उपकार है और जो कुछ अभी लोभ रहता है, वह मुझे हानिकारक है; इसलिए उसे दूर करूँ, तभी मुझे पूरा लाभ होगा।

करमचन्दः—आपकी बात मुझे न्यायानुसार लगती है और भाषणकर्ता का अभिप्राय सच्चा नहीं है, ऐसा मुझे विश्वास होता है। वे भाषणकर्ता और भी बहुत कहते थे, उस सम्बन्ध में भी चर्चा करने की आवश्यकता है, लेकिन अब फिर मिलेंगे।

ज्ञानचन्दः—अच्छी बात है।

(दोनों मित्र चले जाते हैं)

(दोनों मित्र फिर मिलते हैं)

६—**करमचन्दः**—वे भाषणकर्ता कहते थे कि 'गरीब भले ही दान न कर सके तो उससे क्या हुआ ? धर्म के दूसरे बहुत से अंग हैं। जैसे कि—दया, गुरुसेवा इत्यादि प्रत्येक मनुष्य कर सकता है, वे सब धर्मानुष्ठान हैं—यदि ऐसा न मानें तो जगत में दया-दानादि अनुष्ठान नहीं रहेंगे।' अब हम दया सम्बन्धी विचार करें।

ज्ञानचन्दः—इस भाषणकर्ता ने जो कहा—वैसा ही आपका मत

है—ऐसा मानकर यदि हम लोग आगे चर्चा करें तो कैसा रहे?

करमचन्दः—नहीं; वैसा नहीं है; मेरा वह विचार नहीं है। मुझे तो अभी निर्णय करना है, इसलिए आपसे पूछा है। इस भाषणकर्ता ने जो भाव दर्शाये थे, उन्हें तो मैं समझने के लिए आपसे कह रहा हूँ।

ज्ञानचन्दः—आप कहते हो, वैसे विचार उन भाषणकर्ता के और दूसरों के भी हैं, इसलिए हम उन विचारों की परीक्षा करें।

७—**करमचन्दः**—बतलाइये, दया, धर्म का अंग है या नहीं?

ज्ञानचन्दः—हम दया के स्वरूप पर विचार करें, उससे पूर्व 'दया' शब्द से आप क्या कहना चाहते हैं? उसकी व्याख्या कीजिये।

करमचन्दः—दया शब्द तो प्रसिद्ध है, उसके अर्थ की क्या आवश्यकता है। छोटा सा बच्चा भी जानता है कि 'जीव की हिंसा' न करने का नाम दया है।

ज्ञानचन्दः—ठीक है, परन्तु वह व्याख्या अपूर्ण है। अपने जीव की हिंसा न करना दया है या पर जीव की हिंसा न करना? यह आपने स्पष्ट नहीं किया; इसलिए स्पष्ट कीजिए।

करमचन्दः—'अपने जीव की हिंसा' कैसे होती होगी? पर जीव को न मारना वह दया है; ऐसा अर्थ लोक में प्रचलित है। आप कोई दूसरा अर्थ करना चाहते हैं?

ज्ञानचन्दः—मैं क्या अर्थ करना चाहता हूँ, उसका तो यहाँ पर प्रश्न ही नहीं है। भाषणकर्ता दया का अर्थ क्या करते थे—उसका प्रश्न है।

करमचन्दः—दूसरे जीव को न मार डालना, उसे 'दया' कहना चाहिए—ऐसा भाषणकर्ता कह रहे थे, इसलिए वह अर्थ मैं आपके पास स्पष्टीकरण के लिए रख रहा हूँ।

ज्ञानचन्दः—जब जीव ने पूर्व भवों में अनन्त बार महाव्रतों का

पालन किया, तब क्या जीवहिंसा की थी?

करमचन्दः—यह कैसे कह सकते हैं? यदि अतिचाररहित महाव्रतों का पालन करे, तभी जीव नवमें ग्रैवेयक में जाता है, और (आत्मा की पहिचान न हो तो) वह फिर संसारचक्र में भ्रमण करता है—ऐसा मैंने सुना है; इसलिए पहले जीव ने ऐसी दया तो अनन्त बार पाली है, ऐसा मानना ही चाहिए।

ज्ञानचन्दः—यदि वैसा है तो उस समय जब 'धर्म' नहीं हुआ, तब फिर आज कैसे होगा?

करमचन्दः—धर्म भले न हो, परन्तु धर्म का अनुष्ठान तो होता है? उसे सद्व्यवहार तो कहना ही पड़ेगा? वह परमार्थ को तो प्रेरित करता है न?

ज्ञानचन्दः—पर जीव को न मारने का विकल्प उठना, वह रागभाव है या वीतरागभाव?

करमचन्दः—वह विकल्प तो वीतराग को होता ही नहीं। अरे, वीतराग तो क्या, परन्तु अप्रमत्त साधु को भी ऐसा विकल्प नहीं होता कि—इस जीव को बचाऊँ तो अच्छा हो; ऐसा विकल्प उठता है, वह रागभाव है, ऐसा कहे बिना नहीं चल सकता।

ज्ञानचन्दः—तब फिर रागभाव, वीतरागभाव को प्रेरित करता है? यदि अल्प राग, वीतरागभाव को प्रेरित करे तो फिर विशेष राग अधिक वीतरागभाव को प्रेरित करेगा—ऐसा कहना पड़ेगा। इसलिए रागभाव, वीतरागभाव को प्रेरित करता ही नहीं; अतः वह सद्अनुष्ठान या सद्व्यवहार नहीं है।

९—**करमचन्दः**—परन्तु यदि आपके उपरोक्त कथनानुसार दया को धर्म में न गिनें, तब फिर लोग दया नहीं करेंगे?

ज्ञानचन्दः—सच्चा समझे और उससे हानि हो—ऐसा मानना

योग्य नहीं है असत्मय से लोगों को या समाज को लाभ होता है, ऐसा माननेवाला वह कह सकता है। जब तक जीव सम्पूर्ण वीतराग न हो, तब तक भूमिकानुसार पुण्यभाव आये बिना कैसे रह सकते हैं? सम्यग्दृष्टि को पुण्य की इच्छा न होने पर भी बहुत उच्च पुण्य का बन्ध होता है; मिथ्यादृष्टि के वैसा पुण्य कभी नहीं होता। अज्ञानी जीव अनादि से पुण्य-पाप करता आ रहा है और जब तक नहीं समझेगा, तब तक अज्ञानपूर्वक करता रहेगा और पुण्य को धर्म मानेगा। प्रत्येक जीव जो अपने को अनुकूल हो, वैसी मान्यता करता है, यह नियम है। यही प्रत्येक जीव की स्वतन्त्रता सिद्ध करता है। प्ररूपणा असत् क्यों की जाए? सत् प्ररूपणा से किसी जीव को हानि होती ही नहीं परन्तु वह सुधरता है।

१०—**करमचन्दः**—विकारी जीवों के पुण्य-पाप का चक्र चलता ही रहता है, ऐसा आपने कहा, वह बराबर समझ में नहीं आता; इसलिए विशेष स्पष्टता कीजिए।

ज्ञानचन्द—विकार, आत्मा का स्वभाव नहीं है, परन्तु दोष है। विकार का ऐसा स्वरूप है कि वह न्यूनाधिक होता रहता है परन्तु समान नहीं रहता। जैसे किसी को बुखार आया हो, वह किसी समय ९९ डिग्री हो तो कभी १०२ डिग्री भी होता है; किन्तु जब बुखार उतर जाता है, तब ९८ डिग्री (Normal) एक समान रहता है; इस प्रकार विकार भी एक समान नहीं रहता। इस सिद्धान्त का अनुसरण करके जीव को भिन्न-भिन्न गति अपने भावों के अनुसार प्राप्त होती है। जब भारी क्रूरता करे, तब नारकी होता है और महान पुण्यभाव करता है, तब स्वर्ग में देव होता है; जब माया करे, तब तिर्यंच होता है; पुण्य-पाप के मध्यम परिणाम करे, तब मनुष्य होता है। इस प्रकार पुण्य-पाप का चक्र फिरता रहता है; इसलिए विकार तो घूमता रहता है और शुभ-अशुभ (पुण्य-पाप) कषाय चक्र अज्ञानी के चलता ही रहता है।

करमचन्दः—तब क्या जीव को अनादि से पुण्य-पाप करना ही आता है ?

ज्ञानचन्दः—है तो ऐसा ही! यदि जीव निगोद में पुण्यभाव न करे तो वह त्रस कैसे हो ? वह अपने शुभभाव से ही हो सकता है। निगोद में श्रोत्र इन्द्रिय नहीं है, कोई उपदेशक भी नहीं है, किसी जीव की दया पालन नहीं की है, दान दिया नहीं है, तथापि त्रस हुआ और फिर मनुष्य हुआ। ऐसे समस्त शुभभाव स्वतः किये, इससे वे गतियाँ प्राप्त हुईं।

११—**करमचन्दः**—तब तो शुभभाव राग है, बन्ध का कारण है; धर्म का अनुष्ठान नहीं है। जो धर्म को प्रेरित नहीं करता, वह सद्व्यवहार नहीं है—ऐसा तो समझ गया; परन्तु शुभभाव तो ज्ञानी जीव भी करता है, उसका क्या ?

ज्ञानचन्दः—यह प्रश्न बहुत अच्छा है। यदि आप स्वतः उस पर विचार करोगे तो अधिक ठीक रहेगा। इसलिए अब फिर हम लोग मिलेंगे, तब उस प्रश्न को लेंगे। लेकिन अभी दया का वास्तविक अर्थ करना है; उसे पहले लेंगे।

(दोनों मित्र चल दिये)

(दोनों मित्र फिर मिलते हैं)

१२—**करमचन्दः**—दया का स्वरूप आप क्या कहते हैं, उसकी क्या व्याख्या है ?

ज्ञानचन्दः—दया के दो विभाग हैं, स्वदया और परदया।

करमचन्दः—स्वदया का अर्थ क्या! क्या अपनी दया होती होगी ?

ज्ञानचन्दः—अपनी हिंसा और अहिंसा दोनों हो सकती हैं। अज्ञानी अहिंसा को अपनी दया भी कहा जा सकता है। जीव अनादि से भ्रमवश पराश्रय की रुचि-स्वाश्रय ज्ञातापन की अरुचि और पुण्य-पाप द्वारा अपनी शुद्धता की हिंसा कर रहा है, उसे दूर करना, यह अपनी अहिंसा अथवा अपनी दया है।

करमचन्दः—ऐसा अर्थ किसी जगह किया है?

ज्ञानचन्दः—हाँ, श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं:—

(१) **'क्षण क्षण भयंकर भाव मरण**
प्रवाह में चकचूर है,'
'भाव निद्रा टालो।'

अथवा- **'बीते काल अनंत जो कर्म शुभाशुभ भाव**
वही शुभाशुभ छेदतैं उपजे मोक्ष स्वभाव'

(२) श्री समयसारजी स्तुति में पहली ही लाईन में कहा है कि:—'संसारी जीव के भाव मरणों मेंटने करुणा करी सरिता बहाइ सुधामयी प्रभु वीर ने संजीवनी'

करमचन्दः—ठीक, लेकिन पर दया का अर्थ क्या करते हैं?

ज्ञानचन्दः—पर जीव को न मारने का या दुःख न देने का अपना शुभभाव, वह पर दया है। (यदि तत्त्वज्ञानसहित ऐसे शुभराग होते हैं, श्रद्धा में सर्व रागादि दोषों को हेय ही मानते हैं और इस प्रकार ज्ञानी जीव के दया के शुभराग को व्यवहार दया कहने में आता है।)

१३—**करमचन्दः**—स्वदया का स्वरूप क्या है?

ज्ञानचन्दः—स्वदया, स्वरूप दया और निश्चय दया का स्वरूप निम्नानुसार है:—

स्वदयाः—यह आत्मा अनादि काल से मिथ्यात्व से ग्रहण किया हुआ है, सर्वज्ञ वीतराग कथित भेदज्ञान द्वारा स्वतत्त्व को प्राप्त

नहीं करता, जिनाज्ञा का पालन नहीं कर सकता, ऐसा चिन्तवन करके वीतराग कथित स्वधर्म में प्रवेश करना, वह 'स्वदया' है।

स्वरूपदया:—सूक्ष्म विवेक से स्वरूप विचारकर विशेषरूप से स्व में एकाग्र होने का अभ्यास करे, वह स्वरूपदया है।

निश्चयदया:—शुद्ध-साध्य उपयोग में एकता भाव और अभेद उपयोग, वह 'निश्चयदया' है।

निश्चयधर्म:—अपने स्वरूप की भ्रमणा से रहित स्वसन्मुख होना, आत्मा को आत्मभाव से जानना, यह संसार मेरा नहीं है, मैं इससे भिन्न, परम असंग, सिद्ध-सदृश शुद्ध आत्मा हूँ; ऐसी आत्मस्वभाव वर्तना, वह 'निश्चयधर्म' है। (स्वदया, स्वरूपदया, निश्चयदया, निश्चयधर्म सामान्यत: एकार्थ है।)

१४—**करमचन्द:**—इस सम्बन्ध में मैं विचार करूँगा और यदि आवश्यकता होगी तो आपसे पूछूँगा। अभी तो यह बतलाइये कि—सम्यग्ज्ञानी शुभभाव (दया, दानादि) कैसे करता है?

ज्ञानचन्द:—आत्मा एक परिपूर्ण चैतन्य द्रव्य है और इसलिए स्वत: अपने स्वभाव से परिपूर्ण है, ऐसा सम्यग्ज्ञानी जीव मानता है और वह अपने ध्रुव स्वभाव में स्थिर होने के लिए बारम्बार प्रयत्न—पुरुषार्थ करता रहता है; अपने स्वरूप में स्थिर रहने का पुरुषार्थ तो करता है किन्तु स्वरूप में स्थिर नहीं हो सकता—प्रयत्न मन्द है, तब अशुभभाव तो दूर होते हैं परन्तु शुभभाव रहते हैं। उनका स्वामित्व उसके नहीं है। वह तो इस राग का ज्ञाता है। अन्य प्रकार से कहा जाए तो ज्ञानी की दशा निम्नानुसार है:—

१—दृष्टि की अपेक्षा से वह अपने को परिपूर्ण मानता है।

२—ज्ञान अपेक्षा से अपना त्रिकाली शुद्ध स्वभाव, अपने में होनेवाली शुद्धता और रह जानेवाली अशुद्धता को जानता है; अर्थात् वह उसका ज्ञाता है।

३—चारित्र की अपेक्षा से अपने में शेष रहनेवाले अशुद्धभाव को (शुभाशुभ भाव को) वह विष समान मानता है और उसे दूर करने का ही पुरुषार्थ प्रवर्तमान है। एक ही समय में तीन अपेक्षा को जानते हैं—

(१) श्रद्धा की अपेक्षा अशुभराग भी निर्जरा में जाते हैं।

(२) ज्ञान की अपेक्षा सब ज्ञेय हैं।

(३) चारित्र अपेक्षा शुभराग को भी दोष-जहर जानते हैं।

इस प्रकार जानते हैं, फिर भी जब शुद्धता में विशेष स्थित नहीं रहा जा सकता, तब उसे शुभभाव होते हैं और उन शुभभावों को अनुकूल बाह्य पदार्थों का प्रसंग-संयोग रहता है। जगत के जीव मुख्यतः संयोगीदृष्टि-बहिर्दृष्टि हैं; वे अपने को और ज्ञानी को बाह्य संयोगों में समान या अधिक देखकर यह कल्पना करते हैं कि ज्ञानी का भाव भी अपने जैसा है। इसलिए जैसा लोग मानते हैं-वैसे ही दया-दानादि ज्ञानी करते हों-ऐसा बहिर्दृष्टि मानते हैं; परन्तु ज्ञानी तो अपने में होनेवाले कषाय को अकषायस्वरूप की दृष्टि से दूर करना ही चाहते हैं। हाँ, उसमें गुणस्थानक के अनुसार क्रम होता है; इसलिए बीच में शुभभाव आते हैं; परन्तु उन भावों को ज्ञानी कभी धर्म नहीं मानता। उन्हें धर्म में प्रेरक, आदरणीय या सहायक नहीं मानता। जिन्हें प्रेरक माना, अच्छा माना, आदरणीय माना, सहायक माना—उन्हें छोड़ने के योग्य कोई मानता ही नहीं। इस प्रकार ज्ञानी और जगत के दूसरे लोगों की मान्यता में महान अन्तर है। जगत के उन जीवों की मान्यता बिल्कुल विपरीत है; मान्यता में बिल्कुल अन्तर है। (राग-द्वेष बड़ा पाप नहीं किन्तु मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाप है, जो अविरत सम्यग्दृष्टि को भी नहीं होता है।)

१५—**करमचन्दः**—सच्ची श्रद्धा के पश्चात् चारित्र भी वैसा ही होना चाहिए, वह क्यों नहीं होता?

ज्ञानचन्दः—सच्ची श्रद्धा और सच्चा ज्ञान एक साथ होते हैं, परन्तु चारित्र में क्रम पड़े बिना नहीं रहता। मेरे एक मित्र यह दलील हर समय लाते हैं; तब यह नियम समझाने के लिए उन्हें कितने ही उदाहरण देता हूँ, वह आपसे कहता हूँ:—

(१) हमने निश्चय किया कि हमें अपने भाई के यहाँ जाना है। वहाँ जाने से लाभ है। उस निश्चय के साथ ही तुरन्त भाई के यहाँ नहीं जा सकते, नहीं पहुँच सकते, वायुयान द्वारा जाएँ तो भी उसी समय नहीं पहुँच सकते। इसलिए कार्य करने के निश्चय और कार्य की पूर्णता के बीच अन्तर होता ही है।

(२) हम दूसरे मार्ग पर जा रहे हैं, ऐसी खबर हुई, इसलिए पहले तो हम वहाँ से आगे जाने से रुकते हैं, फिर वहाँ से लौटकर उसी रास्ते पर चलते हैं; और जब वह पहला मार्ग समाप्त होता है, तब नवीन मार्ग पर चलते हैं और मार्ग के अन्त में हम अपने लक्षित स्थान पर पहुँचते हैं। (यह दृष्टान्त है।)

करमचन्दः—यह तो आपने परवस्तु का दृष्टान्त दिया, अपना उदाहरण नहीं दिया?

ज्ञानचन्दः—जो जानी हुई परवस्तु हो, उसका दृष्टान्त दिया जाता है, वह सिद्धान्त को सर्वांश में लागू नहीं होता; परन्तु उस पर से सिद्धान्त को पकड़ लेना चाहिए। आत्मा का दृष्टान्त नहीं होता, क्योंकि वह तो अनुभव का विषय है। जिसे आत्मा का अनुभव न हुआ हो, उसे दृष्टान्त की आवश्यकता है। जो समझता है, उसे दृष्टान्त की आवश्यकता नहीं है।

१६—**करमचन्दः**—किन्हीं भी जीवों को श्रद्धा और चारित्र समान होते हैं?

ज्ञानचन्दः—केवली और सिद्ध भगवान को वैसा होता है; छद्मस्थों के वैसा होता ही नहीं।

करमचन्दः—उसका क्या कारण?

ज्ञानचन्दः—सम्यग्ज्ञानी के अंशतः राग दूर हुआ है और अंशतः राग है, उसे टालने का प्रयत्न करता है; स्वयं सरागी अवस्था में है—ऐसा वह जानता है, इसलिए जब तक राग हो, तब तक चारित्र पूर्ण नहीं होता।

यहाँ एक मुख्य बात ध्यान में रखना है कि—'स्वतः सराग है, इसलिए राग के कृत्य करना चाहिए' ऐसा धर्म है—इस प्रकार वह नहीं मानते, अथवा दूसरे के लिए वैसी प्ररूपणा नहीं करते। यदि ऐसी प्ररूपणा की जाए तो सराग अवस्था में राग आदरणीय है, ऐसी मान्यता हुई, और वैसी मान्यता सच्चे ज्ञानी के होती ही नहीं। ●

प्रकरण : २४
त्रास का साम्राज्य और उसे दूर करने का उपाय - सम्यग्ज्ञान

१—**करमचन्दः**—भाई! इस जगत में जहाँ मैं देखता हूँ, उधर त्रास का साम्राज्य चलता दिखायी देता है-यह ठीक है?

ज्ञानचन्दः—आप जो कुछ कहना चाहते हैं, उसे दृष्टान्त देकर स्पष्ट कीजिए।

करमचन्दः—देखो, जगत में प्रजा को राज्य का त्रास लगता है; मजदूरों को पूंजीवाद का त्रास लगता है; राज्य को बलवाखोरों का त्रास लगता है; मनुष्य को शरीर के रोग का, अकाल का, शत्रु का, हिंसक प्राणियों का त्रास लगता है, यह यथार्थ है न?

ज्ञानचन्दः—हाँ, लोक में जीवों को अनेक प्रकार के भय होते हैं; आपने कहे वे तो थोड़े हैं, उनका विस्तार करें तो बहुत होता है और यदि संक्षेप में कहें तो निम्नोक्त सात प्रकार हैं; और उन सात प्रकार के भयों में जगत के समस्त भयों (त्रासों) का समावेश हो जाता है।

१—इस भव में जीवनपर्यन्त अनुकूल सामग्री रहेगी या नहीं उसका त्रास।

२—मरण के पश्चात् पर भव होगा या नहीं; और होगा तो मेरा क्या होगा! उसका त्रास।

३—शरीर में रोग हो, उसकी वेदना का त्रास।

४—मुझे शरण देनेवाले—सगे-सम्बन्धी, कुटुम्बी, सेठ, राज्य

आदि मेरी रक्षा करेंगे या नहीं; या किसी समय प्रतिकूल होने का त्रास।

५—मेरी कोई वस्तु कोई चोर-डाकू न ले जाए, वैसी छिपाकर रखी है, उस गुप्त विषय की किसी को खबर होने पर वह मुझे हानि पहुँचाएगा, ऐसा त्रास।

६—इन्द्रियों आदि की शिथिलता और अन्त में मरण का त्रास।

७—कोई अकल्पित-यकायक अकस्मात हो जाने का त्रास।

२—**करमचन्दः**—इन त्रासों को दूर करने का कोई उपाय भी होगा या नहीं?

ज्ञानचन्दः—देखो; 'बर्फ ठण्डा है, इसलिए यदि उसे स्पर्श करूँगा तो जल जाऊँगा'—ऐसा भय या त्रास किसी को होता है?

करमचन्दः—बिल्कुल नहीं।

ज्ञानचन्दः—उसका क्या कारण है?

करमचन्दः—उसका कारण यह है कि बर्फ का स्वभाव जाना है, इसलिए ऐसा डर नहीं होता कि वह जला देगा।

ज्ञानचन्दः—आप अपने घर में दिन में रस्सी देखो तो आपको 'यह काट खायेगी' ऐसा डर लगेगा?

करमचन्दः—बिल्कुल नहीं; क्योंकि मुझे खबर है कि उसका स्वभाव काटने का नहीं है।

ज्ञानचन्दः—और उसी रस्सी को अँधेरे में देखो तो वह सर्प है—ऐसा मानकर डरकर दूर भागोगे या नहीं?

करमचन्दः—अवश्य, डर के कारण भाग जाऊँगा।

ज्ञानचन्दः—उसका क्या कारण?

करमचन्दः—उसका कारण यह है कि—यह क्या वस्तु है,

उसका मुझे उस समय अज्ञान है और उससे मुझे हानि होगी, ऐसा भ्रम होता है, इसलिए मैं भागता हूँ।

ज्ञानचन्दः—तब देखो, इससे ऐसा निश्चित होता है कि जहाँ वस्तु के स्वभाव का अज्ञान हो, वहाँ प्रतिकूलता के भय से त्रास होता है।

३—**करमचन्दः**—यह बात बराबर है, लेकिन किसी-किसी समय ज्ञान होने से भी त्रास होता है और अज्ञान होने से सुख होता है।

ज्ञानचन्दः—वैसा उदाहरण दीजिए!

करमचन्दः—एक मनुष्य का लड़का मर गया है, परन्तु जब तक उसे उस बात का ज्ञान नहीं है, वहाँ तक दुःख नहीं होता और जब खबर होती है, तब दुःख होता है; इससे इंग्लिश में कहावत भी है कि-Ignorance is bless अर्थात् 'अज्ञानता सुख है।'

ज्ञानचन्दः—आपके दिये हुए दृष्टान्त में ज्ञान दुःख का कारण नहीं है, परन्तु 'लड़का मेरा है' इस ममत्व के कारण—उसकी ओर के राग के कारण, उससे जो अनुकूलता मान ली थी, वह बन्द हो गयी उस कारण, अथवा अपना वंश नहीं रहेगा, उस कारण या भविष्य में वह मेरी सेवा करता, वह लाभ छिन गया—ऐसी किसी भी झूठ मान्यता के कारण ही दुःख होता है। और यदि ज्ञान से दुःख होता है तो जिस-जिसने उसे जाना, उन सभी को दुःख हो; माँ और पिता दोनों को खबर होती है, तथापि माँ बहुत रोती-चिल्लाती है और पिता कम। अथवा पिता बहुत रोये-चिल्लाये और माँ कम—ऐसा कैसे हो सकता है?

४—**करमचन्दः**—तब जो मैंने कही, उस कहावत का क्या?

ज्ञानचन्दः—वह अज्ञानियों ने बनाकर तैयार की है, वे स्वतः भी उसे सच्चा नहीं मानते, क्योंकि यदि सच्चा मानते हों तो स्वयं अपने धन्धे में होनेवाले लाभ-हानि से क्यों परिचित रहना चाहते हैं?

अपने लड़कों को किसलिए पढ़ाते हैं ? क्या उन्हें सुख प्यारा नहीं है ? यदि वे उस कहावत को सच्चा मानते हों तो वैसा करेंगे ही नहीं।

करमचन्दः—तब इस सम्बन्ध में कोई सच्ची कहावत है ?

ज्ञानचन्दः—हाँ, Knowledge is power अर्थात् 'ज्ञान बल है।'

करमचन्दः—यह कहावत तो मिथ्या प्रतीत होती है; क्योंकि अनेक शिक्षित, जगत में बुद्धिशाली गिने जानेवाले मनुष्य कमजोर-निर्बल होते हैं और बिना पढ़े-मूर्ख मनुष्य तगड़े-बलवान होते हैं; अगर वे विद्वान-बुद्धिशालियों को एक धक्का जमा दें तो कुलाँट खा जाएँ।

ज्ञानचन्दः—आप कहावत का अर्थ ही नहीं समझे।

करमचन्दः—तब फिर वास्तविक अर्थ क्या है ?

ज्ञानचन्दः—आपने तो अपने दृष्टान्त में जीव और शरीर को एक माना, इससे आप सच्चा अर्थ नहीं समझे।

करमचन्दः—आप यदि उस बात को सिद्ध कर दो, तो हम मान जाएँ। कारण जाने बिना, परीक्षा किये बिना न मानना—ऐसा आप ही ने कहा है; इसलिए आप कारण बतलाइये!

ज्ञानचन्दः—आप कारण माँगते हैं, वह ठीक है, क्योंकि अन्ध श्रद्धा शून्यवत् है। उन कारणों पर फिर चर्चा करेंगे।

[२]

६—**करमचन्दः**—Knowledge is power.

'ज्ञान वह बल, (सत्ता अधिकार) है'—इस कहावत का आप क्या अर्थ करते हैं ?

ज्ञानचन्दः—ज्ञान है, वह त्रास को जीतनेवाला बल है। ज्ञान वह कहलाता है कि जो यथार्थ हो और दोषरहित हो—सच्चा ज्ञान ही

यथार्थ बल है, क्योंकि दृढ़ता होने से जीव को त्रास नहीं होता, इससे जीव को शान्ति रहती है।

करमचन्दः—आपने पूर्व में सात प्रकार के त्रास कहे थे; उनमें से प्रत्येक त्रास ज्ञान से किस प्रकार दूर हो सकता है—वह बतलाइये?

ज्ञानचन्दः—इस भव में जीवनपर्यन्त अनुकूल सामग्री रहेगी या नहीं; यह इस लोक का भय है। इस भय को दूर करने का साधन यह है कि ज्ञान में यह निर्णय करना चाहिए कि परवस्तु मुझे अनुकूल या प्रतिकूल हो ही नहीं सकती। मेरे समझने में दोष है, वही यथार्थ प्रतिकूलता है। मेरा जो चैतन्य गुण है, वही मेरा लोक है, वह नित्य है, सर्व काल में प्रगट है। वह मेरे चैतन्यस्वरूप लोक को कोई परद्रव्यादि बना या बिगाड़ नहीं सकता। मेरा लोक मैं स्वतः चैतन्यस्वरूप (शरीर-राग-द्वेष-पुण्य-पाप से पर) हूँ, मेरा लोक नित्य मेरे साथ ही है। उसे इसलोक में या परलोक में त्रास देनेवाली कोई वस्तु नहीं है—ऐसा समझकर जो दृढ़ हो जाए, उसे त्रास नहीं हो।

७—**करमचन्दः**—जो दोष रहित है, वह सच्चा ज्ञान कहलाता है—ऐसा आप कहते हो; तो ज्ञान में दोष कितने हैं?

ज्ञानचन्दः—(१) संदेह (२) विपरीतता और (३) अनिर्णय—यह तीन ज्ञान के दोष हैं। जीव इन दोषों को दूर करे उसी को सच्चा ज्ञान होता है।

करमचन्दः—कितने ही लोग कहते हैं कि आप तो जहाँ देखो वहाँ 'सच्चा ज्ञान-सच्चा ज्ञान को' करना ही कहते रहते हैं?

ज्ञानचन्दः—सच्चे ज्ञान के प्रति जिसे अरुचि हो, उसे ऐसे ही भाव आते हैं; समझने की रीति तो ऐसी है कि समझने की बुद्धि से, पूर्व में बाँधी हुई समस्त मान्यताओं को थोड़े समय के लिए एक ओर रखकर यदि जीव प्रयोजनभूत तत्त्व सुनकर यह निश्चित करे कि यथार्थ

क्या है, तभी सच्चा उपाय समझ में आता है। स्वयं जो मान्यताएँ बना रखी हैं, यदि वे सच्ची हों तो अभी तक त्रास क्यों नहीं जाता? शान्ति क्यों नहीं होती? पर की कल्पित अनुकूलताओं से जिसे सुख मानना हो, उसे यह ध्यान में रखना पड़ेगा कि पर से कल्पित की हुई सुविधाएँ थोड़े समय में अदृश्य हो जाएँगी और कल्पित प्रतिकूलताओं का समूह आएगा। आवेश और कल्पनाओं के द्वारा त्रास दूर नहीं किया जा सकेगा; क्योंकि वे स्वतः त्रास उत्पन्न करनेवाले झूठे उपाय हैं।

करमचन्दः—ज्ञान से लाभ होता है, वैसी मान्यता संसार में भी प्रचलित है और वे वैसा वर्तन भी करते हैं। जैसे कि:—

(१) ज्ञान प्राधान्य न हो तो मनुष्य अपनी सन्तान को किसलिए पढ़ायें?

(२) पेट में दर्द होने पर उसके उपाय के लिए वैद्यकज्ञाता के पास किसलिए जाएँ? धाराशास्त्री के पास क्यों नहीं जाते?

(३) किसी व्यावहारिक कार्य में कुछ कठिनाई प्रतीत हो तो उसका मार्ग पूछने के लिए उस काम के ज्ञाता के पास मनुष्य जाते हैं।

(४) सुन्दर गहनें (जेवर) बनवाना हो तो उसके जानकार सुनार के पास जाते हैं; किन्तु उसके लिए वैद्य-डॉक्टर या वकील के पास कोई नहीं जाता। इन दृष्टान्तों पर से यह सिद्धान्त निकला कि लोग भी प्रतिकूलाएँ दूर करने का उपाय सच्चे ज्ञान को मानते हैं। ऐसा होने पर भी किसी न किसी प्रकार का दुःख तो बना ही रहता है—उसका क्या कारण है?

ज्ञानचन्दः—आत्मा के (-अपने) स्वरूप का सच्चा ज्ञान क्या है, उसे लोग परीक्षा करके निश्चित नहीं करते।

करमचन्दः—कल्पित सुविधाएँ अल्प समय में अदृश्य हो जाएँगी—ऐसा आप कहते हो, उसका क्या कारण है?

ज्ञानचन्दः—पर से सुविधाएँ होती हैं, वह कल्पना अपने ज्ञान की विकृत (विपरीत) अवस्था है। और विकृत अवस्थाओं के पक्ष घूमते रहते हैं।

करमचन्दः—कितने मनुष्यों और राजाओं को आजीवन अमुक प्रकार की अनुकूलताएँ तो रहती ही हैं, वह क्यों?

ज्ञानचन्दः—मेरा कहना आप बराबर नहीं समझे। इसलिए अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है।

परवस्तु से तो अनुकूलता भी नहीं है और प्रतिकूलता भी नहीं है; परवस्तु मात्र जाननेयोग्य (ज्ञेय) पदार्थ है। परवस्तु की कोई भी अवस्था अपने लिए अनुकूल है—ऐसी जीव कल्पना करता है और कोई प्रतिकूल है, ऐसी कल्पना भी जीव करता है। परवस्तुओं का संयोग एक समान किसी जीव को नहीं रहता; किन्हीं-किन्हीं वस्तुओं का रहे, तथापि उनकी अवस्थाएँ तो बदलती ही हैं; इस कारण परवस्तु से अनुकूलता-प्रतिकूलता की कल्पना करनेवाले जीवों की कल्पनाएँ बदले बिना रहती ही नहीं।

९—**करमचन्दः**—तब सुख-दुःख तो मन की कल्पनाएँ ही लगती हैं, यथार्थ सुख ज्ञात नहीं होता।

ज्ञानचन्दः—वैसा नहीं है, अपनी भूल से सांसारिक सुख-दुःख तो है। परवस्तु से अनुकूलता-प्रतिकूलता की कल्पना जीव करते हैं, और वह भूल भूलरूप में सत्य है किन्तु वह कल्पना मिथ्या अर्थात् भ्रम ही होने से मात्र हवाई किलावत् है। अपने सच्चे ज्ञान की दृढ़ता का फल शान्तिरूप सच्चा सुख है, वह निश्चल है।

करमचन्दः—आपने यह तो स्पष्ट कर दिया कि इसलोक और परलोक का भय कैसे दूर होता है; दूसरे भयों सम्बन्धी चर्चा फिर मिलेंगे, तब रखेंगे।

ज्ञानचन्दः—बहुत अच्छा।

१०—**करमचन्दः**—दूसरे त्रास कैसे दूर होते हैं?

ज्ञानचन्दः—रोग शरीर में होता है, शरीर परमाणु-रजकणों का बना हुआ है; रजकण अजीव जड़ पुद्गल हैं। मैं जीव हूँ, शरीर संयोगी पदार्थ-होने से वह बिगड़ता-सुधरता है, उससे मेरा कुछ सुधार-बिगाड़ नहीं होता। जीव का (आत्मा का) शरीर तो ज्ञान-शरीर है, वह सदा अचल है, सदा निराकुल है। इससे रोग की वेदना मुझे नहीं हो सकती; मैं ज्ञानस्वरूप का उपभोग करनेवाला हूँ; पुद्गल से हुई रोगरूप अवस्था, वह वेदना ही नहीं है, इससे यथार्थ समझनेवाले को वेदना का भय ही नहीं है। इस प्रकार सच्ची प्रतीति की दृढ़ता द्वारा वेदना का त्रास नष्ट होता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। (चतुर्थ गुणस्थान गृहस्थदशा में भी होता है, उस जीव को प्रथम से ही श्रद्धा अपेक्षा-स्वामित्व में निरन्तर अपनी अखण्ड ज्ञानचेतना के स्वामित्वरूप वर्तन है। अज्ञानचेतना का स्वामित्व किंचित् नहीं होने से श्रद्धा-ज्ञान में जरा भी किसी का भय नहीं है, चारित्र की कमजोरी जितना भय गौण है, गिनती नहीं है।)

११—**करमचन्दः**—अरक्षा का त्रास कैसे दूर हो?

ज्ञानचन्दः—मैं एक स्वतन्त्र चैतन्य वस्तु हूँ, इसलिए स्वयं अपने से ही रक्षित हूँ। पर मेरी रक्षा नहीं कर सकता। मैं ऐसी वस्तु नहीं हूँ कि दूसरों के द्वारा सुरक्षित रखने से रहूँ, नहीं तो नष्ट हो जाऊँ। नित्य ज्ञानस्वरूप का आश्रय-दृढ़ता और इस ज्ञान के मन्थन से अरक्षा का त्रास नष्ट होता है।

करमचन्दः—पुण्य तो जीव का 'रखवाला' (रक्षक) है न?

ज्ञानचन्दः—पुण्य क्षणिक है या त्रिकाली?

करमचन्दः—पुण्य तो क्षणिक उत्पन्न-ध्वंसी है।

ज्ञानचन्दः—तो वह क्षणिक भाव, त्रिकाली आत्मा का रक्षक कैसे हो सकता है?

करमचन्दः—कितने लोग कहते हैं कि यदि कोई यह समझ जाएगा तो पुण्य नहीं करेगा।

ज्ञानचन्दः—'मनुष्य सच्चा समझेंगे तो उल्टे चलेंगे'—ऐसा माननेवाले यह कह सकते हैं। सच्चा समझनेवाला पुण्य में युक्त नहीं होगा और तब शुद्धता में युक्त होकर सर्व विकारों को दूर करके मुक्त होगा। जैसे विकार की वृद्धि हो, वैसे ही त्रास दूर होता जाए—ऐसा तो होता ही नहीं। अज्ञानी का पुण्यभाव इस मान्यता पर रचा हुआ है कि पर से अपने को अनुकूलता हो। ज्ञानी शुद्ध में न रह सके, तब अशुभ दूर करने के लिए शुभ में हेयत्व की बुद्धिसहित युक्त होता है परन्तु उससे सच्चा धर्म नहीं मानता; इससे आवांछक वृत्ति होने से उच्च पुण्य होते हैं।

करमचन्दः—दूसरे वैसा उपदेश क्यों नहीं देते?

ज्ञानचन्दः—प्रत्येक जीव जो अपने को योग्य लगे वैसा उपदेश देता है। जिज्ञासु को उसकी परीक्षा करना चाहिए। प्रत्येक व्यापारी अपने माल को अच्छा और ऊँचा कहता है। जीवों को पुण्य का अर्थात् भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादि काल से ही है और उसका उपदेश भी बहुधा सर्व प्राणी परस्पर करते हैं, परन्तु उसका फल संसार है।

करमचन्दः—उसका फल संसार किसलिए है?

ज्ञानचन्दः—पुण्य क्षणिक है, उत्पन्नध्वंसी है, वह विकारी है, इससे उसका फल संसार है। अन्य प्रकार से कहें तो वह बढ़ता है (पुद्रूप होता है) और बिखर जाता है (गलरूप होता है), इससे पुद्गल भाव है; उसका फल भी पुद्गल वस्तु का संयोग है। विकार

का फल सच्चा सुख नहीं हो सकता और उससे त्रास भी दूर नहीं होता। (पुण्यास्रव से नया बन्धन होता है, इसलिए उनका हेतु-स्वभाव-अनुभव और आश्रय बन्धरूप और मोक्ष से विरोधीस्वरूप है। देखो समयसार पुण्य-पाप अधिकार)

करमचन्दः—आपके कहने पर से ऐसा प्रतीत होता है कि—जो अपने आत्मा को जान ले, उसे अरक्षाभय न रहे; क्योंकि आत्मा को कोई हानि नहीं पहुँचा सकता, वह स्वयं अपने से ही रक्षक है।

ज्ञानचन्दः—हाँ, ऐसा ही है।

१२—**करमचन्दः**—तब इस प्रकार वह पर से छिपा हुआ ही है, इससे उसे गुप्तिभय रखने का वास्तव में कोई कारण नहीं है, ठीक है न?

ज्ञानचन्दः—सम्यग्दृष्टि के वैसी ही मान्यता होती है, और उसी कारण मरण भय या आकस्मिक भय नहीं होता। वह जानता है कि जीव मरता नहीं है और अकस्मात् कभी होता ही नहीं; यह दशा असंयत सम्यग्दृष्टि होने से प्रारम्भ होती है। ●

प्रकरण : २५
विश्व-प्रेम

प्रश्न—१—**करमचन्दः**—'आत्मधर्म' में 'आत्मा का हित ही मोक्ष है।' इस शीर्षक का लेख पढ़ा; उसमें विश्वप्रेम का स्वरूप आ जाता है—ऐसा मुझे लगता है, वह ठीक है?

ज्ञानचन्दः—हाँ; उस लेख में जो स्वरूप कहा है, उसमें विश्वप्रेम का स्वरूप आ जाता है।

२—**करमचन्दः**—यदि इस विषय को विशेष स्पष्टरूप से समझा दें तो अच्छा है!

ज्ञानचन्दः—(अ) 'विश्व' का अर्थ है जगत के सर्व पदार्थ—छहों द्रव्य; वह निम्नानुसार हैं:—जो जाति अपेक्षा छह ही हैं, संख्या अपेक्षा अनन्त भी हैं।

१— सिद्ध जीव, संसारी जीव, जिनकी संख्या अनन्त हैं।

२— अनन्तानन्त पुद्गलद्रव्य, सभी प्रकार के (स्कन्धों सहित)

३— एक धर्मास्तिकाय।

४— एक अधर्मास्तिकाय।

५— एक आकाश।

६— असंख्यात कालाणु।

(ब) प्रेम दो प्रकार का है। एक तो रागरहित प्रेम, दूसरा रागसहित प्रेम। उनमें जो रागरहित प्रेम है, वह विश्वप्रेम है; क्योंकि उसमें सर्व द्रव्यों के प्रति समभाव है; राग-द्वेष नहीं है; विश्वप्रेम का दूसरा नाम समानभाव अथवा समभाव है। वस्तुएँ, उनके गुण और उनकी

भूमिकानुसार अवस्थाएँ जैसी हैं, वैसा जानना और उनके प्रति राग-द्वेष न करना, उसका नाम सच्चा विश्वप्रेम है।

३—**करमचन्दः**—'आत्मा का हित एक मोक्ष ही है' उस लेख में इस स्वरूप का भाग कौन सा है, वह बतलाइये!

ज्ञानचन्दः—उस लेख के नीचे के पैरे में यह विषय आता है:—'जिसके अन्तर में आकुलता है, वह दु:खी हैं और जिसे आकुलता नहीं है, वह सुखी है और जो आकुलता होती है, वह मिथ्यात्व और रागादि कषायभाव होने से होती है, क्योंकि मिथ्या अभिप्राय द्वारा यह जीव तो सर्व द्रव्यों को अन्य प्रकार परिणमित करने की इच्छा रखता है और सर्व द्रव्य अन्य प्रकार परिणमित होते हैं, तब इसे राग-द्वेषवश आकुलता होती है।'

'अब, या तो अपने रागादि भाव दूर हों अथवा अपनी इच्छानुसार ही सर्व द्रव्य परिणमित हों तो आकुलता दूर हो। अब, सर्व द्रव्य तो इसके अधीन नहीं हैं परन्तु किसी समय कोई द्रव्य इसकी इच्छानुसार परिणमित हो, तथापि इसकी आकुलता सर्वथा दूर नहीं होती। सर्व कार्य इसकी इच्छानुसार ही हों, अन्यथा न हों, तभी यह निराकुल रहे, परन्तु ऐसा तो हो ही नहीं सकता क्योंकि किसी द्रव्य का परिणमन किसी द्रव्य के आधीन नहीं है परन्तु अपने रागादिभाव दूर होने से निराकुलता होती है; और वह कार्य बन सकता है क्योंकि रागादि भाव आत्मा का स्वभावभाव तो है नहीं, किन्तु औपाधिकभाव है।'

४—**करमचन्दः**—तब तो ऐसा हुआ कि किसी द्रव्य का परिणमन किसी द्रव्य के आधीन नहीं है, ऐसा निर्णय करके परवस्तुओं के प्रति मिथ्या अभिप्राय न करना, राग-द्वेष न करना और स्वाश्रय द्वारा निराकुलता प्रगट करना, उसका नाम 'विश्वप्रेम' है—ऐसा आप कहना चाहते हैं?

ज्ञानचन्दः—हाँ, ऐसा ही है। ऐसा भाव प्रगट होने से किसी भी जीव को दुःख देने का, प्रतिकूलता करने का, प्राण लेने का, उसकी सुविधाएँ छीन लेने का—ऐसा कोई भी विकार भाव नहीं रहता। वैसा भाव सिद्ध, तीर्थंकर या केवली जीवों के नहीं होता, इसलिए वे पूर्ण और सच्चे विश्वप्रेमी हैं।

करमचन्दः—सिद्ध भगवन्तों से लोगों को क्या लाभ होता है?

ज्ञानचन्दः—द्रव्य-गुण-पर्याय के स्वरूप सहित सिद्ध परमात्मा के स्वरूप को जानकर सिद्ध भगवान के ध्यान द्वारा जीवों को स्वद्रव्य -परद्रव्य तथा उपाधिक-स्वभाविक भाव का विज्ञान होता है; वह ध्यान अपने को सिद्ध समान होने का साधन होता है, इसलिए अपने साधने योग्य शुद्धस्वरूप को दर्शाने के लिए सिद्ध भगवान प्रतिबिम्ब समान हैं। इस प्रकार सिद्ध भगवान 'विश्वप्रेमी' हैं।

करमचन्दः—अपने गाँव के मनुष्यों को सुख देने का, सुविधाएँ देने का, प्राण बचाने का इत्यादि कोई ऐसा भाव उसमें नहीं आया, फिर उसे 'प्रेम' कैसे कहा जाए?

ज्ञानचन्दः—अमुक को ही सुख इत्यादि देने का भाव करे तो विश्व (समस्त) के प्रति प्रेम नहीं रहा। उसका सिद्धान्त यह है कि जीव जब तक अपना सच्चा स्वरूप न समझे, तब तक वह पर के प्रति राग-द्वेष अल्प या अधिक किये बिना रहेगा ही नहीं, इसलिए अभी इस समय किसी के प्रति राग करेगा तो वह भाव (विकारी होने से) परिवर्तित हुए बिना रहेगा ही नहीं। और एक या अधिक के प्रति राग हो, वहाँ दूसरों के प्रति उसी समय द्वेष है क्योंकि सभी को समान नहीं गिना। राग के पश्चात् अज्ञानी को द्वेष प्रगट हुए बिना रहेगा ही नहीं; इसलिए जीव यदि अपना पारमार्थिक स्वरूप समझे, तभी जगत के सर्व पदार्थों के प्रति यथार्थ भाव रख सकता है, उसी को 'विश्वप्रेम' कह सकते हैं।

यह ध्यान में रखना है कि जीव अपना स्वरूप समझे बिना कभी भी राग या द्वेष को दूर कर ही नहीं सकेगा।

५—**करमचन्दः**—सर्व जीवों के प्रति समान रागवाला प्रेम हो सकता है या नहीं?

ज्ञानचन्दः—नहीं; कदापि नहीं हो सकता। सभी जीवों के प्रति समान रागवाला प्रेम तो नहीं ही हो सकता; परन्तु सभी मनुष्यों (जिसमें अपना समावेश होता है) के प्रति भी समान प्रेम नहीं रह सकता। एक मनुष्य भोजन करते समय-जगत के समस्त मनुष्यों ने भोजन लिया या नहीं, भोजन ले रहे हैं या नहीं, उन सबको पर्याप्त और अच्छा भोजन मिले, तभी मैं भोजन करूँगा—ऐसा कभी नहीं कर सकता, परन्तु सबका स्वरूप जैसा है, वैसा जानकर उनके प्रति कर्तृत्व-ममत्व-राग-द्वेष न करे वही उनके प्रति यथार्थ (अकषायी) प्रेम है।

प्रेम के विभाग करते समय—रागरहित प्रेम और रागसहित प्रेम—ऐसे दो भेद किये थे; उसमें रागरहित प्रेम का जो स्वरूप कहा, वह पूर्णरीत्या अमल में लानेवाले वीतरागी जीव और सिद्ध भगवान हैं; इसलिए उन्हें शास्त्र में 'अकषायी करुणासागर' कहा है।

६—**करमचन्दः**—विश्वप्रेम को अपूर्णरूप से कौन अमल में ला सकता है?

ज्ञानचन्दः—छद्मस्थ सम्यग्दृष्टि जीव।

करमचन्दः—छद्मस्थ यदि वीतरागी न हो, उसे तो 'राग' होता है, फिर वह 'विश्वप्रेम' कैसे कहा जा सकता है?

ज्ञानचन्दः—वे ऐसा नहीं मानते कि—पर का भला-बुरा हम कर सकते हैं; इसलिए अपने हित के लिए जब स्वतः शुद्धता में नहीं रह सकते, तब किसी को दुःख देने आदि के भाव नहीं करते और लोभादि को दूर करने से दानादि के जो शुभभाव उनके होते हैं, उनके

स्वामी नहीं होते, इसलिए उस अपेक्षा से उनके 'अपूर्ण-विश्वप्रेम' हैं—ऐसा कहा जा सकता है। सम्पूर्ण वीतरागी होने से वे 'सम्पूर्ण विश्वप्रेमी' हो जाते हैं।

करमचन्दः—जो आत्मा के स्वरूप को यथार्थतया न जानते हों, वैसे जीवों के विश्वप्रेम हो सकता है या नहीं?

ज्ञानचन्दः—नहीं, उनके नहीं हो सकता। 'आत्मा का हित मोक्ष ही है'—ऐसा जो यथार्थरूप से निश्चित करता है, उसे 'विश्वप्रेम' हो सकता है। ●

प्रकरण : २६
पाप दूर करने का सच्चा उपाय क्या है ? (१)

प्रसंग-पहला

१—**करमचन्दः**—आप एक बार कहते थे कि पुण्य से धर्म होता है, इस लौकिक मान्यता में ही पुण्य से धर्म नहीं होता—ऐसा अव्यक्तरूप से आता है, वह किस प्रकार ?

ज्ञानचन्दः—पुण्य से धर्म होता है, इस मान्यता में पाप छोड़ने जैसा है—ऐसी मान्यता आई या नहीं ? ('मान्यता' शब्द का उपयोग इसलिए किया है कि—'मान्यता' (सम्यक् अभिप्राय) होते ही चारित्र एकदम प्रगट हो, ऐसा नहीं होता; परन्तु उसी समय अंशतः क्रमशः प्रगट होता है और क्रमशः पूर्ण होता है।)

करमचन्दः—पाप छोड़ना ही चाहिए—ऐसी मान्यता तो आयी ही।

ज्ञानचन्दः—तब फिर महापाप तो तुरन्त ही टालना चाहिए या उसे बनाये रखना ?

करमचन्दः—महापाप प्रथम ही दूर करना चाहिए।

ज्ञानचन्दः—महापाप कौन सा है ?

करमचन्दः—मिथ्यात्व ही महापाप है।

ज्ञानचन्दः—जिसे आप महापाप कहते हो, उस मिथ्यादर्शन के दूसरे नाम बतलाइये ?

करमचन्दः—हाँ, उसे स्वरूप की अप्रतीति, अज्ञान, अविद्या, मिथ्या अभिप्राय भी कहा जाता है।

ज्ञानचन्दः—तब फिर, जिसकी ऐसी मान्यता है कि—पाप दूर करना ही चाहिए, उसे मिथ्यादर्शनरूपी महापाप दूर करना ही पड़ेगा; और यदि जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करे, तभी वह दूर हो, यह बात सत्य है या नहीं ?

करमचन्दः—हाँ, वैसा ही है।

ज्ञानचन्दः—तब तो सम्यग्दर्शन से मिथ्यादर्शनरूप महापाप दूर होता है, वैसा आया; और सम्यग्दर्शन कहो या धर्म का प्रारम्भ कहो—सच्ची समझ कहो अथवा सच्चा (सम्यक्) ज्ञान कहो—वह एक ही अथवा एक साथ रहनेवाले हैं—इससे ऐसा हुआ कि शुद्ध भाव का प्रारम्भ होने से महापाप दूर हो सकता है। क्यों यह बराबर है न ?

करमचन्दः—हाँ, वह बिल्कुल ठीक है। वास्तव में पुण्यभाव से धर्म नहीं होता तथापि पुण्य से धर्म होता है—ऐसा लोग मानते हैं। उसका क्या कारण है ?

ज्ञानचन्दः—सामान्यरीत्या लोग इस सम्बन्ध में विचार नहीं करते। बचपन से स्वतः सुना होता है कि पुण्य से धर्म होता है। अपने बड़ों से भी वैसा ही सुनता है और धर्मस्थानों में भी अधिकतर वैसा ही सुनने में आता है। यह मान्यता अनादि से चली आ रही है और ज्यों-ज्यों उसकी आयु में वृद्धि होती जाती है, वैसे ही उसकी पुष्टि होती जाती है। उसका परिणाम यह आता है कि यदि कोई कहे कि पुण्य से धर्म नहीं होता—महापाप दूर नहीं होता तो उसे बिजली के शॉक जैसा झटका लगता है। उसे सच्चे ज्ञान का तिरस्कार तथा सुनने की ओर अरुचि होती है, परन्तु तटस्थ होकर शान्ति से उसके सभी पक्षों का विचार करे तो तत्त्व-जिज्ञासु को यह बात तुरन्त समझ में आ जाती है।

करमचन्दः—इसके दूसरे पक्ष क्या हैं, उन पर हम फिर चर्चा करेंगे।

ज्ञानचन्दः—बहुत अच्छा।

(दोनों चल देते हैं।)

प्रसंग-दूसरा

३—**करमचन्दः**—पुण्य के दूसरे पक्ष हैं—ऐसा आप कहते थे, वे आज बतलाइये।

ज्ञानचन्दः—देखो, पुण्य का इच्छुक जिस समय पुण्य करना चाहता है, उसी समय पाप का बन्ध हो, ऐसी इच्छा रखता है?

करमचन्दः—जो पुण्य करना चाहता है, वह उसी समय यदि पाप भी लगता हो तो वह पुण्य का इच्छुक कैसे कहलायेगा? नहीं कहला सकता।

ज्ञानचन्दः—आपने यह स्वीकार किया; तब फिर मैं आपसे पूछता हूँ कि आप यह तो जानते हैं न कि, शुभभाव (पुण्य-भाव) करते समय, जिसे आत्मस्वरूप का ज्ञान न हो, उसके सच्चा ज्ञान-सच्ची प्रतीति-सच्चे चारित्र और वीर्य का घात होता है तथा इससे उनके घातियाकर्म—आवरण बँधते हैं और वे सब पाप ही हैं।

करमचन्दः—आप कहते हो, उस पर से मुझे याद आता है कि शुभभाव होने से चारों घातियाकर्मों की प्रकृतियाँ बँधती हैं—ऐसा ज्ञानी बतलाते हैं; इसलिए आपकी यह बात सघ्य है।

ज्ञानचन्दः—तब पुण्यभाव करने से, आत्मस्वरूप के अजान को आत्मा के निजगुण अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वीर्य इत्यादि के घातक पापकर्म में से कौन-सा दूर होगा? और कौन-सा नहीं बँधेगा?

करमचन्दः—एक भी नहीं।

ज्ञानचन्दः—तब फिर आप ही कहिये कि कौन-कौन से शुभभाव करते-करते इस भव में, इस भव में नहीं तो दूसरे भव में सम्यक्त्व का गुण प्रगट होगा?

करमचन्दः—ऐसा एक भी शुभभाव नहीं है, जिसे करते-करते अनन्त काल बीत जाए, तथापि सम्यक्त्व प्रगट हो और मिथ्यात्व का महापाप दूर हो।

ज्ञानचन्दः—तब फिर जो आत्मस्वरूप के अज्ञानी हैं, उन्हें तो, ज्ञातास्वभाव के विरोध की दृष्टि होने से पुण्य (शुभ) भाव करते हैं, उसी समय भी मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी अनन्त पाप जो अनन्त संसार की वृद्धि करनेवाला है, वह बँधता ही है, तो फिर आप मध्यस्थ होकर विचार करें कि वह पुण्य का सच्चा पक्षपाती कहलायेगा?

करमचन्दः—नहीं कहलायेगा। परन्तु तब प्रश्न उठता है कि—पाप का नाश कौन कर सकता है?

ज्ञानचन्दः—सम्यग्दर्शन हो, उसी समय मिथ्यात्व और अनन्त संसार को बढ़ानेवाले क्रोध-मान-माया-लोभ उत्पन्न ही नहीं होते और ४१ पापकर्मों की अशुभ प्रकृतियाँ तो बँधती ही नहीं; और दूसरे पाप क्रमशः उसके न बँधकर अन्त में वह पापबन्ध से रहित हो सकता है।

करमचन्दः—आपने बहुत स्पष्ट बात की, परन्तु यह विषय किसी अन्य प्रकार से विचारा जा सके वैसा है?

ज्ञानचन्दः—अनेक पक्षों से उस पर विचार हो सकता है; और उन सबका परिणाम एक ही आता है; क्योंकि सत्य तो सत्य ही रहता है परन्तु उस विषय को फिर कभी लेंगे।

(दोनों मित्र पृथक् हुए)

प्रसंग-तीसरा

(दोनों मित्र फिर मिलते हैं)

स्वरूप की समझ के बिना पुण्य और पापचक्र चलते रहते हैं।

करमचन्दः—कहिये; अन्य किस प्रकार से इस बात पर विचार हो सकता है?

ज्ञानचन्दः—जिसे आत्मस्वरूप का लक्ष्य नहीं है, उसके कषायचक्र चालू रहने से शुभ के पश्चात् तुरन्त ही अशुभ आता है, यह जानते हो?

करमचन्दः—यह बात उदाहरण देकर समझाइये।

ज्ञानचन्दः—प्रथम तो हमें विचार करना चाहिए कि—शुभ (पुण्यभाव) क्या है और पापभाव क्या है। देखो, पूर्व में आपको बतलाया था कि पुण्यभाव करनेवाला जीव, जिसे आत्मस्वरूप का सच्चा ज्ञान नहीं है, वह शुभभाव करते समय ही मिथ्यात्वादि पाप का बन्ध करता है परन्तु यह तो उससे आगे बढ़ने की बात है, इसलिए इसे लक्ष्यपूर्वक सुनना।

करमचन्दः—लक्ष्यपूर्वक सुनकर उसकी तुलना करूँगा।

ज्ञानचन्दः—एक मनुष्य को आपने दान दिया; और फिर आप सांसारिक व्यापारादि कार्यों में लगते हैं?

करमचन्दः—हाँ।

ज्ञानचन्दः—आपका व्यापारादि धन्धे का भाव शुभ है या अशुभ?

करमचन्दः—उसे शुभ कैसे कहा जा सकता है? वह तो अशुभभाव है।

ज्ञानचन्दः—तब फिर ऐसा हुआ कि शुभभाव मिटने के पश्चात् अशुभभाव तो तुरन्त आता है। इसलिए पुण्य का सतत-धारावाही

चलना तो नहीं रहा; और पुण्य के सच्चे अनुमोदक को तो चौबीसों घण्टे पुण्य करना चाहिए।

करमचन्दः—लेकिन यह कैसे हो सकता है?

ज्ञानचन्दः—अज्ञानी से नहीं बन सकता, परन्तु ज्ञानी के कितने ही पद ऐसे हैं, जिनमें वैसा होता है।

करमचन्दः—मुझे भी विचार करने से ऐसा लगता है कि शुभभाव सतत चालू नहीं रहता; शुभ का काल पूर्ण हुआ कि तुरन्त ही कोई अशुभ आता है। ऐसा भी होता है कि शुभ करने का विचार कर रहे हों वहाँ अशुभभाव ताकता है।

ज्ञानचन्दः—शुभभाव, अशुभभाव की भाँति क्षणिक है, उत्पन्नध्वंसी है, विकारी है। वे दोनों मोह राजा की सेना के सेनापति हैं। शुभ है, वह मोह राजा की कढ़ी है और वह Supercially (ऊपरी दृष्टि से) मीठी-मधुर लगती है। इसलिए पुण्य के पक्षपाती को प्रथम उसका यथार्थस्वरूप समझ लेना चाहिए। समय हो चुका है, इसलिए हम चलेंगे।

(दोनों चले गये)

प्रसंग-चौथा

पुण्य का स्वरूप

५—**करमचन्दः**—पुण्य का स्वरूप तो छोटा सा बच्चा भी समझता है, उसमें समझने जैसा क्या है?

ज्ञानचन्दः—बतलाइये! छोटा बच्चा किस प्रकार समझता है?

करमचन्दः—किसी जीव का प्राणधात करना, असत्य बोलना, चोरी करना, अब्रह्मचर्य, परिग्रही होना—यह सब पाप है; किसी

जीव को दुःखी देखकर दान देना, सेवा करना, उसे बचा लेना, अन्न-पानी देना इत्यादि पुण्य है।

ज्ञानचन्दः—ठीक है। तत्त्वदृष्टि से यह अभिप्राय बराबर है या नहीं, इस पर हम विचार करें। परन्तु विचार करने से पहले यह जानने की आवश्यकता है कि यह मान्यता बालकों की ही है या बड़ों की भी?

करमचन्दः—बड़ों की भी यही मान्यता है। उसमें मात्र इतना अन्तर है कि बड़े जोरशोर से इस मान्यता की घोषणा करते हैं—उसका अनुकरण करने के लिए दूसरों को प्रेरित करते है और उनके उपदेश से या कहने से लोग दान देते हैं—ऐसा भी देखने में आता है।

ज्ञानचन्दः—तब, बतलाइये—एक मनुष्य को मारने के लिए किसी ने बन्दूक मारी, लेकिन वह आदमी बच गया; तो बन्दूक मारनेवाले को पाप तो लगा या नहीं?

करमचन्दः—हाँ, पाप तो अवश्य लगा।

ज्ञानचन्दः—किसलिए? मनुष्य मरा तो नहीं है, फिर पाप कैसे लगा?

करमचन्दः—मार डालने का भाव था इसलिए।

ज्ञानचन्दः—आपके अपने उत्तर से तो ऐसा निश्चित हुआ कि—जीव को मार डालने का भाव किया, उससे पाप हुआ - न कि सामनेवाले जीव के जीने से या मरने से। जीव मरे या न मरे, उसके साथ पाप की उत्पत्ति का सम्बन्ध नहीं है; पाप तो जीव में होता है, इसलिए जीव का तीव्र कषायभाव, वह पाप है। हिंसा तो अपने भावों से ज्ञात होती है—ऐसा निश्चित हुआ।

करमचन्दः—परन्तु आपने तो जीव बच गया, उसका दृष्टान्त दिया; जीव मर जाए, उसका उदाहरण लीजिए।

ज्ञानचन्दः—भले, वैसा ही ले लो। एक मनुष्य दुःखी है, उसे

भूख लगी है, और उसे भूख मिटाने के लिए आपने उसे बिल्कुल हल्का-सादा भोजन दिया; लेकिन वह उसे नहीं पचा, विपरीत हुआ, और उससे वह मर गया—तो आपको पुण्य लगा या पाप?

करमचन्दः—यह तो पुण्य है, इसमें पाप कैसे कह सकते हैं। भोजन देनेवाले का भाव तो उसे अनुकूलता देने का था; इसलिए पुण्य कहलायेगा।

ज्ञानचन्दः—तब फिर जो मनुष्य जैसा एक प्राणी मर गया, उसे किसके खाते में लिखोगे?

करमचन्दः—विचार करने से तो ज्ञाता होता है कि प्राणी जिये या मरे, उसके साथ पुण्य-पाप का सम्बन्ध नहीं है। अपने-अपने भावों के साथ सम्बन्ध है और वही नियम सत्य-असत्य इत्यादि को लागू होता है।

ज्ञानचन्दः—तब फिर आप जो कहते थे कि बच्चा भी पुण्य का स्वरूप समझता है, वह ठीक है?

करमचन्दः—वह मान्यता सच्ची नहीं है। जीव शुभभाव करे (पश्चात् सामनेवाले प्राणी को लाभ-हानि कुछ भी हो) तो पुण्य और अशुभभाव करे (पश्चात् सामनेवाले प्राणी को लाभ या हानि कुछ भी हो) तो पाप माना जाता है।

ज्ञानचन्दः—आपकी बात बराबर है, परन्तु प्रश्न यह उठता है कि शुभभाव करने से पाप का बन्ध भी होता है—इसमें आपको कुछ नवीनता मालूम होती है?

करमचन्दः—नवीनता अवश्य लगती है, इसलिए स्पष्टता की आवश्यकता है। अब फिर हम उस विषय पर चर्चा करेंगे।

ज्ञानचन्दः—अच्छी बात है।

(दोनों चले जाते हैं)

प्रसंग-पाँचवाँ

शुभभाव करते हुए पापबन्ध भी होता है—उसका कारण?

६—**करमचन्दः**—शुभभाव करते हुए पाप का बन्ध भी होता है, वह कैसे?

ज्ञानचन्दः—इस सम्बन्ध में विचार करते हुए हम दो प्रकार के जीवों को लेंगे। (१) आत्मस्वरूप से अजान (२) आत्मस्वरूप का ज्ञाता-साधक जीव।

उसमें प्रथम—आत्मस्वरूप से अजान को पहले जानना लाभदायक है।

७—**करमचन्दः**—ठीक है, आत्मस्वरूप से अजान को पहले लेना बिल्कुल ठीक है।

ज्ञानचन्दः—देखो, वह तो ऐसा मानता है कि—(१) मैं पर जीव को मार सकता हूँ, (२) पर जीव को जिला (बचा) सकता हूँ (३) पर जीव को दुःख दे सकता हूँ, (४) पर जीव को सुख दे सकता हूँ। ऐसा वह मानता है या नहीं?

करमचन्दः—हाँ, दूसरे को मार सकता हूँ; दूसरे को दुःख दे सकता हूँ—ऐसा मानता है; और वैसे कृत्य को लोग पाप कहते हैं, मानते ही हैं। तथा वह ऐसा भी मानता है कि—दूसरे को जीवित रख सकता हूँ, उसे सुख दे सकता हूँ; वैसे कृत्य को लोग पुण्य कहते हैं।

ज्ञानचन्दः—वैसी मान्यता बालक की है या बड़े की?

करमचन्दः—छोटे-बड़े सभी की वैसी मान्यता है।

ज्ञानचन्दः—हम एक महासभा बुलाएँ, और उसमें उपरोक्तानुसार पुण्य-पाप की व्याख्या रखें, तो वह प्रस्ताव पास होगा या नहीं?

करमचन्दः—अवश्य ही पास हो जाएगा।

ज्ञानचन्दः—उससे विरुद्ध यदि कोई उस सभा में कहे कि देखो भाई! जो प्रस्ताव आप पास करना चाहते हो, वह भूल से भरा हुआ है; कोई किसी को मार या जिला नहीं सकता; सुख-दुःख नहीं दे सकता; तो उसके कथन का क्या प्रभाव होगा?

करमचन्दः—अरे! प्रमुख लोग झल्ला उठेंगे, और कहेंगे कि—अरे! ऐसा कहने से तो समाज को भारी हानि होगी। जो महावीर भगवान ने कहा, उसका यह लोप करते हैं; इत्यादि कहकर भाषण देने लग जाएँगे। कहेंगे कि भाई! धर्म का लोप होने लगा है! ऐसा मेरा अनुमान है।

८—**ज्ञानचन्दः**—देखो भाई! वह मान्यता भूलयुक्त है, इस सम्बन्ध में पहले आपसे कुछ कहा था। अब फिर से चर्चा करें। जिज्ञासु -बुद्धि से-खुले हृदय से चर्चा करने से सत्य-असत्य की खबर पड़ती है। इसलिए आपसे पूछता हूँ कि, देखो; निम्नानुसार होता है?

(१) एक डॉक्टर रोगी को अच्छा करने के लिए, उससे बन सके उतनी सँभाल के साथ उसका दुःख दूर करने के हेतु से Operation (ऑपरेशन) करता है; लेकिन रोगी टेबल पर ही मर जाता है?

(२) एक मनुष्य दूसरे को मार डालने के अभिप्राय से विष देता है और दूसरा मनुष्य विष खा लेता है; उसके परिणामस्वरूप वह तो मरता नहीं है, परन्तु उसे बहुत समय पहले का कोई रोग हो तो वह उससे मिट जाता है—ऐसा बनता है?

(३) एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को यह मानकर कोई चीज़ देता है कि इससे वह सुखी होगा; लेकिन वह चीज़ उसे पसन्द नहीं आती और सुख के बदले दुःख होता है?

(४) एक पिता, पुत्र के भले के लिए उसे शिक्षा दे कि भाई! अपने को असत्य बोलना, चोरी करना, जुआ खेलना आदि व्यसन अच्छे

नहीं हैं; तथापि पुत्र नहीं मानता; ऐसा होता है या नहीं ? उसे सुखी होने के लिए दी गयी शिक्षा उसे अरुचिकर प्रतीति होती या नहीं ?

(५) गजसुकुमार पर उनके ससुर के सिर पर जलती हुई अग्नि उन्हें दुःख देने के लिए रखी थी, परन्तु उन्हें वीतरागता द्वारा कषाय न करने से दुःख न होकर सुख हुआ, मोक्ष हुआ, अविनाशी कल्याण हुआ, यह सत्य है या नहीं ?

(६) विद्यार्थी पढ़े, उसका सुधार हो और भविष्य में सुखी हो —उस हेतु से शिक्षक उससे अपने पाठ बराबर याद करने के लिए कहता है और वह विद्यार्थी वैसा न करे तथा शिक्षक को बुरा कहे— ऐसा होता है या नहीं ?

(७) भगवान (ज्ञानी) इस जगत में अनन्त हुए, उन्होंने जगत के कल्याण के लिए उपदेश दिया, परन्तु उसके सुननेवाले सभी ज्ञानी हुए ही नहीं। जगत के अधिकांश जीवों ने सुधरने से इनकार किया और कितनों ने उनकी धर्म सभा में से बाहर निकलकर घोर विरोध किया—ऐसा होता है या नहीं ?

(८) यह जीव स्वतः अनन्त बार तीर्थंकर भगवन्तों की धर्मसभा में गया। भगवान का कल्याणकारी उपदेश सुनने को मिला, परन्तु महान विपरीतता करके उस उपदेश को अस्वीकार किया और केवली के निकट भी कोरा रह गया—ऐसा आपने सुना है या नहीं ?

(९) एक मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य को मारने के लिए गया, लेकिन वह मनुष्य तो नहीं मरा और एक दूसरा मनुष्य अचानक बीच में आ गया और मर गया;—ऐसा होता है या नहीं ?

(१०) एक साल बंगाल में अनाज की भारी कमी पड़ गई, करुणाबुद्धि जीव जितना अपने से बन सके उतना अनाज सबको बाँटना चाहते थे, किन्तु उनकी इच्छानुसार नहीं हो सका—ऐसा हुआ था या नहीं ?

९—**करमचन्दः**—इन सब सिद्धान्तों पर मैंने विचार किया सब यथार्थ हैं, इससे निम्न सिद्धान्त निकलते हैं:—

शुद्ध	शुभ	अशुभ
	१-३-४	२-५-९
७-८	६-१०	

२—परवस्तु का परिणमन (अवस्था) इस जीव के आधीन नहीं हैं।

३—जो जीव जीता रहा, उसका शरीर और जीव उस समय पृथक् होने योग्य नहीं था।

४—जो मर गया, उसका शरीर और जीव उस समय पृथक् होने योग्य था।

५—पर के ऊपर किसी का अधिकार नहीं चलता, इससे पिता-पुत्र का, शिक्षक-विद्यार्थी का या तीर्थंकर, केवली किसी दूसरे का कुछ नहीं कर सकते, परन्तु स्वतः अपने अन्दर अपने भाव का स्वतः पुरुषार्थ कर सकता है।

ज्ञानचन्दः—तब फिर बतलाइये कि कोई किसी पर का भला-बुरा कर सकता है, यह मान्यता यथार्थ है?

करमचन्दः—बिल्कुल नहीं; लोक में प्रचलित मान्यता है कि 'मैं पर का कुछ कर सकता हूँ' बिल्कुल मिथ्या है।

१०—**ज्ञानचन्दः**—उस मिथ्या मान्यता को मिथ्यादर्शन कहा जाता है, वह पाप ही है या नहीं?

करमचन्दः—वह अवश्य पाप है।

ज्ञानचन्दः—तब फिर लोक व्यवहार में पुण्य की जो मान्यता प्रचलित है, उस मान्यतापूर्वक होनेवाले शुभभाव में इस मिथ्या मान्यता का पाप साथ में आया या नहीं?

करमचन्दः—आया; और वह पुण्य के सच्चे पक्षपाती को दूर करना ही चाहिए।

ज्ञानचन्दः—परन्तु वह महापाप किसलिए है, उसका निर्णय किया है?

करमचन्दः—नहीं; अब फिर मिलेंगे, तब उस पर विचार करेंगे।

(दोनों मित्र पृथक् हुए)

●

प्रकरण : २७
पाप दूर करने का सच्चा उपाय क्या है ? (२)

प्रसंग - छठवाँ

करमचन्दः—मैं पर का भला-बुरा कर सकता हूँ; सुख-दुःख दे सकता हूँ—यह मान्यता मिथ्या है। उसे पाप कहते हो, वह बराबर है; परन्तु महापाप किसलिए कहते हो ? (इतना ठीक है कि जीव अपूर्ण अवस्था में पर को सुख-दुःख देने का भाव कर सकता है।)

ज्ञानचन्दः—वह महापाप है; इसका यह कारण है कि—(१) जीव दूसरे का कुछ नहीं कर सकता और अपना कर सकता है; यदि पर का भी कर सकता हो तो स्व-पर का भेद न रहे, दो तत्त्व दो न रहकर एकमेक तन्मय हो जाए अर्थात् स्वयं और पर एक हो जाएँ। जैसे अपना कर सकता है, वैसे ही पर का कर्ता बने तो, पर तो अनन्त वस्तुएँ हैं, इसलिए स्वयं और अनन्त पर वस्तुएँ उसकी मान्यता में एक ही हुईं; जैसे वह अपना स्वामी है, उसी प्रकार अनन्त पर वस्तुओं का स्वामी हुआ। यह मान्यता अनादि से चली आ रही है, और इसी के कारण परवस्तु में इष्टता-अनिष्टता मानता है; इस प्रकार यह मान्यता समस्त दुःखों का मूल होने से वह महा-पाप है।

करमचन्दः—यह बात मैं समझ गया। उसका सार मैं कहता हूँ। यदि उसमें कुछ अन्तर हो तो आप सूचित करना।

ज्ञानचन्दः—अच्छी बात है; कहिये!

करमचन्दः—आपने जो कहा, उसका सार निम्न प्रकार है:—

(१) एक जीव, किसी पर का कुछ नहीं कर सकता। कारण

कि प्रत्येक द्रव्य के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में अन्य वस्तु के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का तीनों काल अभाव ही है।

(२) स्वतः अपने में विकारी या अविकारी भाव कर सकता है।

(३) सम्पूर्ण अविकारी भाव प्रगट न हो, वहाँ तक जीव को अशुभभाव टालकर, शुभभाव करने का भाव आता है परन्तु उन भावों को वह धर्म नहीं मानता। धर्म तो निज ज्ञायकस्वभावी धर्मी निज शुद्धात्मा में होने से, उसी के आश्रय से धर्म की उत्पत्ति, टिकना, बढ़ना और पूर्ण होना मानता है।

(४) ऐसा करने से अनन्त पर वस्तुओं के ऊपर का ममत्व अभिप्राय में से छूट जाता है और उससे जो दान, दया, तप, पूजा, सेवा इत्यादि का राग आता है, वह अपने अशुभभावों को दूर करने के लिए—लोभ कषाय कम करने के लिए है—किन्तु पर के लाभ के लिए नहीं; इसलिए पर चाहे जैसा वर्ते, तथापि अपने को अन्दर में प्रसन्नता या अप्रसन्नता नहीं होती।

(५) स्वयं अपने में स्थिर रहने का प्रयत्न करता है और न रह सके, तब तीसरे पैरे में कही हुई मान्यतासहित चौथे पैरे में बताये अनुसार वर्तन करता है। तथा जो राग रहता है, उसमें कभी भी किंचित् भी अपना स्वामित्व नहीं मानता।

ज्ञानचन्दः—ठीक है; विशेष चर्चा फिर करेंगे।

(दोनों प्रस्थान करते हैं)

प्रसंग-सातवाँ

आत्मस्वरूप के ज्ञाता सम्यग्दृष्टि साधक जीव के पुण्य का स्वरूप। पुण्य का अधिकार उसका है?

करमचन्दः—इस सम्बन्ध में विचार करने से प्रश्न उठता है कि तीर्थंकर नामकर्म ऐसा है कि जिस जीव के वह कर्म हो, वह अवश्य वीतराग होता है; इसलिए जिस भाव से तीर्थंकर पद की प्राप्ति हो, वह शुभभाव है तो उसे उपादेय क्यों न मानता?

ज्ञानचन्दः—आपके प्रश्न का उत्तर देने के लिए आपसे निम्न विषयों को जान लेना चाहिए:—

(१) वह शुभभाव मिथ्यादृष्टि के होता है या सम्यग्दृष्टि के?

(२) उस भाव को सम्यग्दृष्टि उपादेय—अनुसरणयोग्य, हितरूप मानता है? अर्थात् आत्मा का स्वरूप मानता है या विकार मानता है?

करमचन्दः—(१) वह भाव तो सम्यग्दृष्टि के ही होता है, मिथ्यादृष्टि के नहीं होता, और वह भाव रागरूप-दोष ही है; इसलिए श्रद्धा में प्रथम से ही सर्व प्रकार के दोष को हेय मानता है—करने योग्य है, ऐसा जरा भी नहीं मानता।

(२) सम्यग्दृष्टि उस भाव को निजस्वरूप नहीं मानता। उस भाव को जो निजस्वरूप माने, उसके तो वह भाव होता ही नहीं।

ज्ञानचन्दः—यह बराबर है। जो-जो तीर्थंकर भगवान होते हैं, वे प्रथम अपने पुरुषार्थ से सम्यग्दर्शन प्रगट करते हैं और जो राग रहा है, वह हेयरूप-दुःखरूप मानते हैं। अतः राग का राग नहीं है इससे वीतरागी दृष्टि-ज्ञानवान को जो राग रह जाए, उसमें उस भाव का निमित्त पाकर तीर्थंकर नामकर्म बँधता है।

करमचन्दः—तब तो ऐसा हुआ कि व्यवहार से शुभभाव का अधिकार सम्यग्दृष्टियों ने ही रखा है।

ज्ञानचन्दः—उनका अधिकार तो शुद्धता प्रगट करने का है, परन्तु उसमें अपूर्णता हो, तब सातिशय पुण्य प्रकृतियों का अवांछित वृत्ति से बन्ध हो जाता है। उसे आप पुण्य का अधिकार कहना चाहते हैं तो कहिये; परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव तो उस रागभाव तथा तीर्थंकर प्रकृति—दोनों को उपादेय नहीं मानते। सातिशय पुण्य को पुण्यानुबन्धी पुण्य कहा जाता है, जो सम्यग्दृष्टि के होता है, परन्तु उसका वह स्वामी नहीं है। सम्यग्दृष्टि तो मात्र उसका व्यवहारनय से ज्ञाता-दृष्टा है।

करमचन्दः—आत्मस्वरूप का अनुभव किया ही नहीं, ऐसे अज्ञानी को पुण्य होता है, उसका कोई मुख्य नाम है?

ज्ञानचन्दः—हाँ, उसे पापानुबन्धी पुण्य कहा जाता है।

करमचन्दः—उस पुण्य का स्वरूप क्या है?

ज्ञानचन्दः—श्री परमात्मप्रकाश, अध्याय-२, गाथा-२० में निम्नानुसार बतलाया है:—

पुण्णे ण होइ विहवो विहवो विहवेण मओमएम मइ-मोहो।
मइ-मोहेणयपावं ता पुण्णं अम्ह मा होउ॥२०॥

पुण्येन भवति विभवो विभवेन मदो मदेन मति मोहः।
मतिमोहेन च पापं तस्मात् पुण्यं अस्माकं मा भवतु॥२०॥

अर्थः—पुण्य से घर में धन होता है, धन से अभिमान होता है, अभिमान से बुद्धि भ्रष्ट होती है, बुद्धि भ्रम होने से पाप होता है; इसलिए ऐसा पुण्य हमें न हो!

टीकाकार कहते हैं कि—मिथ्यादृष्टि को पुण्य के फल से प्राप्त हुई सम्पदा से अभिमान होता है; अभिमान से बुद्धि भ्रष्ट होती है; बुद्धि भ्रष्ट होने से पाप होता है और पाप से भव-भव में अनन्त दुःख

पाता है। इसलिए मिथ्यादृष्टियों का पुण्य, पाप का ही कारण है।

सम्यक्त्वादि गुण सहित विवेकी जीव को पुण्यबन्ध, अभिमान उत्पन्न नहीं करता। वैसे जीव चाहे जैसी महान विभूति को प्राप्त हुए हों, तथापि मद-अहंकारादि विकल्पों को छोड़कर सम्पूर्ण पवित्रता प्रगट करते हैं। मिथ्यादृष्टियों को पुण्य का फल-विभूति गर्व का कारण होता है और सम्यग्दृष्टियों को नहीं होता।

करमचन्दः—आपने जो कहा, उससे तो स्पष्ट होता है कि—जीव को दुःख से छूटना हो तो—दुःख काहे से होता है और वह कैसे दूर हो? उसका सूक्ष्म दृष्टि से निर्णय करना ही चाहिए। अनादि काल से वह भूल चली आ रही है। पुण्य का स्वरूप बराबर समझना चाहिए, ताकि यह भ्रमणा दूर हो जाए कि—पुण्य से धर्म होता है और यह भी समझ में आ सके कि पुण्य की मर्यादा कितनी है। पाप क्या है, और उसमें महापाप क्या है—उसका स्वरूप समझना चाहिए; उसके अतिरिक्त कभी भी सच्चा सुख मिलता ही नहीं। पुण्य का स्वरूप न समझे तो पुण्य को हेय कैसे मान सकेगा? अज्ञानी को तो कोई शुभभाव हो, तब उसका अव्यक्त अभिमान होता ही है—'मैं पर का भला कर सकता हूँ'—ऐसा मानता हो, तब भी उसको नम्रता-करुणा बुद्धि हो, किन्तु मैं पर का कर सकता हूँ—मुझे करना ही चाहिए—यह मेरा कर्तव्य है, पुण्य भी मेरा कर्तव्य है—ऐसी भ्रमणा होने से उसके अन्दर अव्यक्त अभिमान होता ही है।

ज्ञानचन्दः—ठीक है, वैसे अभिमान को शास्त्र की परिभाषा में 'अनन्तानुबन्धी मान' कहते हैं।

करमचन्दः—वह बराबर है। क्योंकि यदि एक का भला किया जा सके तो अनन्त का किया जा सकता है और इससे वह अभिप्राय में अनन्त परवस्तु का स्वामी हुआ। मैं सबका सेवक हूँ—ऐसा मान

ले तो भी वह भूल है। सम्यग्दृष्टि तो जिन-जिन शुभभावों में युक्त होता है, वे किसी के भले के लिए नहीं; परन्तु अपने को कषाय की पीड़ा के समाधान के लिए—अर्थात् अशुभराग दूर करने के लिए पुण्यभाव करता है। राग सदा परलक्ष्य से होता है; पर को जो लाभ होता हो, वह तो उनके अपने भावों के कारण से होता है। यह मैं समझ गया। इस प्रकार यह विषय पूर्ण होता है।

ज्ञानचन्दः—आप समझने की जिज्ञासा रखते हो, वह अनुमोदन की पात्र है। इस मान्यता को लक्ष्य में रखकर उसका खूब मन्थन करना—उसके लिए स्वाध्याय आदि करना, शास्त्रों के अर्थों की पद्धति, नय विभाग और प्रयोजन सहित बराबर समझना; इससे उसकी मान्यता और ज्ञान अधिक निर्मल होगा। सत्य किस प्रकार है, उसे यदि स्वोन्मुख होकर स्वतः जानेगा तो असत्य को दूर करेगा।

(विशेष फिर)

●

प्रकरण : २८
सच्चा 'मिच्छामि दुक्कडं' कब होता है ?

१—'मिच्छामि दुक्कडं'—यह मागधी भाषा का पद है। उसका संस्कृत 'मिच्छामि दुष्कृत्यं'—ऐसा होता है और उसका हिन्दी अर्थ 'मेरा दुष्कृत्य मिथ्या होओ'—ऐसा होता है।

२—तब 'दुष्कृत' क्या है, यह प्रथम समझना चाहिए। मिथ्यात्व है, वह महापाप है और इसलिए वह महान से महान 'दुष्कृत' है। जीव जिस कुल में जन्म लेता है, उस कुल में बहुधा कोई न कोई धर्म की मान्यता होती है। कुलधर्म की उस मान्यता को घर में पोषण मिलता है। बड़ा होने पर धर्म स्थानों में जाने से उस मान्यता की विशेष पुष्टि होती है और धन्धे में फँस जाने के कारण, कुलधर्म की मान्यता का यथार्थ स्वरूप क्या है—उसकी विचारणा का उसे समय नहीं मिलता; इसलिए ओधसंज्ञा से जो क्रियाएँ स्वत: या अपने सगे-सम्बन्धी करते हैं, वह धर्म होना चाहिए—ऐसा मानकर अपना जीवन चलाता है। 'आत्मा का स्वभाव धर्म है'—ऐसा सुनने के लिए तो बहुधा उसे नहीं मिलता और इस प्रकार अपने स्वभाव के घोर अज्ञान का सेवन करता रहता है। यह घोर अज्ञान पहले नम्बर का 'दुष्कृत' है; इसलिए जीव को अज्ञान दूर करके अपना यथार्थ स्वरूप जानने की आवश्यकता है। उसे जाने बिना सच्चा सुख प्रगट नहीं हो सकता और यथार्थ 'मिच्छामि दुक्कडं' नहीं होता।

३—सच्चा 'मिच्छामि दुक्कडं' क्या है, वह समझने के लिए एक पाठ नीचे दिया गया है।

'अंध बना अज्ञान से किया अतिशय क्रोध, वह मिच्छामि दुक्कडं'

—ऐसे पाठ अनेक जीव बोलते हैं, पढ़ते हैं परन्तु उनका अर्थ समझकर यथार्थ 'मिच्छामि दुक्कडं' नहीं करते। इसलिए इस सम्बन्ध में कुछ लिखने की आवश्यकता है।

४—उपरोक्त पद में 'अज्ञान' से अन्ध बना—ऐसा कहा है, परन्तु अज्ञान को दूर करने के लिए तो जीव परिश्रम नहीं करे और यह पद बोला करे इससे 'अज्ञान' नहीं जाता और सच्चा 'मिच्छामि दुक्कडं' नहीं होता, परिणाम में जीव अज्ञान से अन्ध बना रहता है। स्वयं आधुनिक शिक्षा ली हो और समाजिक प्रतिष्ठा भी अच्छी हो, तो अपने को मैं 'अज्ञानी' हूँ—ऐसा नहीं मानता, किन्तु बुद्धिमान मानता है; इसलिए उसे अज्ञान दूर करना तो बनेगा ही कैसे? परन्तु जीव का यथार्थस्वरूप समझे बिना (लौकिक शिक्षा चाहे जितनी ली हो तथापि) जीव अंशमात्र सुखी नहीं होता और प्रतिसमय अनन्त दुःख भोगता है। बाह्य साधनों से स्वयं अपने को सुखी माने परन्तु उससे कहीं सच्चा सुख नहीं आ जाता, क्योंकि अपने स्वरूप की अप्रतीति (अज्ञान) तो बनी ही है, वही दुष्कृत है।

५—'किया अतिशय क्रोध' इस पद में गम्भीर मर्म है। अपने स्वरूप की अरुचि, वह जीव का अतिशय क्रोध है। जब तक जीव उसे सम्यग्ज्ञान द्वारा दूर नहीं करता, तब तक स्वयं सुखी नहीं होता और अपने को सच्चा मिच्छामि दुक्कडं नहीं होता।

६—मैं पर का कर सकता हूँ, पर मेरा कर सकता है, पुण्य से धर्म होता है, पुण्य धर्म में सहायक होता है—ऐसी मान्यता संसार का बीज* है, उस 'दुष्कृत्य' के प्रति जब तक हेयबुद्धि न आये, तब तक पर का कर्तृत्व और ममत्व अभिप्राय में से दूर ही नहीं होता; इसलिए दुष्कृत्य को मिथ्या करने के लिए सर्व प्रथम आत्मा का सच्चा स्वरूप यथार्थ जानना ही चाहिए।

* देखो पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, गाथा-१४

जब जीव अपना यथार्थ स्वरूप समझ ले, तभी उसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन का प्रगट करना, वह मिथ्यात्व के प्रतिक्रमण की सच्ची क्रिया है। (आत्मा और जीव इन शब्दों का अर्थ एक ही होता है—ऐसा समझना।)

८—जब सम्यग्दर्शन प्रगट करे, तभी भूतकाल में किये हुए भावकर्म के निमित्त से आये हुए द्रव्यकर्मों को मिथ्या करनेवाला सच्चा प्रतिक्रमण होता है। जीव सम्यग्दर्शन प्रगट करे, वह मिथ्यादर्शन का प्रतिक्रमण है। सम्यग्दर्शन प्रगट करके अपने निर्मल भेदज्ञान के अभ्यास द्वारा स्वरूप में क्रमशः एकाग्र होता है; चैतन्यस्वरूप आत्मा के अनुभव में स्थिर हो, वह मिथ्याचारित्र का प्रतिक्रमण है, यह यथार्थ प्रतिक्रमण सच्चा 'मिच्छामि दुक्कडं' है। गुणस्थान के अनुसार वह धर्म का सच्चा अंग है, ऐसा समझना चाहिए।

९—**प्रश्नः**—सम्यग्दर्शन होने से पूर्व में किये हुए दुष्कृतों का मिथ्यापना किस प्रकार होता है?

उत्तरः—'मिथ्या' कहने का प्रयोजन यह है कि—जैसे किसी ने पहले धन कमाकर घर में रखा था, पश्चात् उसकी ओर का ममत्व छोड़ा, तब उसे भोगने का अभिप्राय नहीं रहा, उस समय भूतकाल में जो धन कमाया था, वह न कमाने के समान ही है। उसी प्रकार जीव ने पहले कर्म बाँधा था, पश्चात् जब उसे अहितरूप जानकर उसके प्रति ममत्व छोड़ दिया और उसके फल में लीन नहीं हुआ, तब भूतकाल में जो कर्म बाँधा था, वह न बाँधने के समान मिथ्या ही है। इस निर्मोह भाव से ही पूर्व का 'दुष्कृत' मिथ्या हो सकता है। उस भाव को सच्चा 'मिच्छामि दुक्कडं' कहा जाता है।

१०—**प्रश्नः**—सम्यग्दर्शन प्रथम किसलिए प्राप्त करना चाहिए? सम्यग्दर्शन प्राप्त करना हमें कठिन लगता है। हम व्रत पालें, जप

करें, तप करें, घरबार छोड़कर चारित्र ग्रहण करें तो धर्म नहीं होगा ?

उत्तरः—रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन ही मुख्य है। सम्यग्दर्शन होने से सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हो सकता है। सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र सम्यक् नहीं है। सम्यग्दर्शन के बिना सारा ज्ञाना मिथ्याज्ञान है और समस्त चारित्र मिथ्याचारित्र है। सम्यग्दर्शन के बिना व्रत, तप, तप आदि भी सब व्यर्थ है। इसलिए मनुष्य जन्म पाकर सबसे पहले सम्यग्दर्शन धारण करना चाहिए।

(देखो, प्रबोधसार श्रावकाचार, पृष्ठ ९)

११—**प्रश्नः**—तत्त्वनिर्णयरूप धर्म के लिए कौन योग्य है ?

उत्तरः—तत्त्वनिर्णयरूप धर्म तो बाल, वृद्ध, रोगी, निरोगी, धनवान, निर्धन, सुक्षेत्री और कुक्षेत्री इत्यादि सर्व अवस्थाओं में प्राप्त होने योग्य है। जो पुरुष अपने हित का वांछक है, उसे तो सर्व प्रथम यह तत्त्वनिर्णयरूप कार्य करना ही योग्य है।

इसलिए जिसे सच्चा धर्मी होना हो, उसे तो ज्ञानी के तथा शास्त्र के आश्रय से तत्त्वनिर्णय करना योग्य है परन्तु जो तत्त्वनिर्णय तो नहीं करता और पूजा, स्तोत्र, दर्शन, त्याग, तप, वैराग्य, संयमशील, सन्तोष आदि सभी कार्य करता है, उसके यह सभी कार्य असत्य हैं; इसलिए प्रथम आगम का सेवन, युक्ति का अवलम्बन, परम्परा गुरुओं का उपदेश और स्वानुभव द्वारा तत्त्वनिर्णय ही करना योग्य है। ●

प्रकरण : २९
सच्चा प्रतिक्रमण

जीव अनादि से अपने स्वरूप को भूला हुआ है, इसलिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान द्वारा उस भूल से विमुख होना अर्थात्—अपना यथार्थ स्वरूप समझना, यह प्रतिक्रमण है।

करमचन्दः—भाई! संवत्सरी निकट आ रही है, परन्तु प्रतिक्रमण के लिए आने का मेरा विचार नहीं होता, तो आप मुझे क्षमा करोगे न?

ज्ञानचन्दः—क्यों? आपको किसलिए यह विचार आया, वह बतलाओ तो फिर क्या करना—वह हम निश्चित करेंगे।

करमचन्दः—देखो, मैं 'प्रतिक्रमण' शब्द का अर्थ भी नहीं जानता, तब फिर उसका भाव क्या है—यह तो कहाँ से जानूँगा? इसलिए विचार नहीं होता।

ज्ञानचन्दः—आप इतने वर्षों से प्रतिक्रमण करते हो और उसका अर्थ नहीं समझते तो यह नासमझी कैसे चलाते आये? आप जैसे आदमी का काम नासमझी में रहना नहीं है।

करमचन्दः—आपकी बात सत्य है। ना समझी रखना ही नहीं चाहिए। कितने ही लोग कहते हैं कि—'हम भले न समझें तो उसमें क्या हानि है? जितने समय तक धर्मस्थान में रहे, उतने समय तक छह काय जीवों की हिंसा तो रुकी और हमने चौबीस घण्टे तक आहार-पानी न लेने की प्रतिज्ञा की, इससे तप हुआ और उससे निर्जरारूप धर्म हुआ; इसलिए अपने को समझने की आवश्यकता नहीं है। मेरे जैसे वर्तमान काल के युवक को यह बात कैसे गले उतर सकती है? इसलिए जो यथार्थ हो, वह समझाइये।

ज्ञानचन्दः—आपने स्पष्टीकरण चाहा, वह बहुत अच्छा किया। 'नासमझी से' कभी आत्मा को लाभ होता ही नहीं परन्तु हानि होती है; इसलिए स्पष्टता से यह विषय समझ सको, उसके लिए थोड़ा कहूँगा।

करमचन्दः—पहले आप 'प्रतिक्रमण' का अर्थ बतलाइए।

ज्ञानचन्दः—प्रतिक्रमण=प्रति+क्रमण। उसका अर्थ होता है पीछे लौटना। जीव अनादि से अपने स्वरूप को भूला है, इसलिए उस भूल से वापिस फिरना अर्थात् अपना यथार्थ स्वरूप समझना, वह प्रतिक्रमण है।

करमचन्दः—तब तो ऐसा हुआ कि—(१) जीव क्या है, उसका स्वरूप क्या है, वह क्या कर सकता है, क्या मानता था, सुख-सुख का उपाय क्या है और उससे विरुद्ध मान्यता हमारे में क्या है, इन बातों को प्रथम जानना चाहिए। (२) जीव अनादि से क्या भूल कर रहा है, वह जानना चाहिए, क्योंकि भूल रहित अपने नित्य ज्ञानस्वरूप को तथा भूल को जाने बिना भूल से विमुख कैसे हुआ जा सकेगा? (३) जीव का और अपने में होनेवाली भूल का स्वरूप जानकर उससे इस प्रकार विमुख होना चाहिए। इस प्रकार आत्मा में होनेवाली इस क्रिया को प्रतिक्रमण कहते हैं।

ज्ञानचन्दः—आपने प्रतिक्रमण का जो स्वरूप कहा, वह बराबर है। उसी को ज्ञानी सच्चा प्रतिक्रमण कहते हैं।

करमचन्दः—तब तो ऐसा हुआ कि आज तक बिना समझे प्रतिक्रमण किया, वह तो मात्र कालक्षेप हुआ; आत्मा को कुछ भी लाभ नहीं हुआ—यह ठीक है।

ज्ञानचन्दः—हाँ, है तो ऐसा ही। प्रतिक्रमण तो आत्मा का (जीव का) शुद्धभाव है, इससे जो आत्मा को नहीं समझता, उसके सच्ची प्रतिक्रमण की क्रिया नहीं होती।

करमचन्दः—कितने ही लोग कहते हैं कि—'छह काय के जीवों की रक्षा तो हुई—इतना लाभ तो हुआ'—उसका क्या?

ज्ञानचन्दः—आप छह काय जीव में आये या नहीं? यदि आये तो आपकी रक्षा हुई न? और यदि आप नहीं आये तो फिर छह काय जीवों की रक्षा कहाँ हुई?

करमचन्दः—मैं तो यह भी यथार्थतया नहीं समझता कि जीव क्या है; इसलिए 'छह काय जीव' क्या कहलाता है, वह भी मैं नहीं कह सकता, परन्तु बचपन में मैं कितने ही बोल सीखा था, उसमें ऐसा आता था कि—पाँच प्रकार के एकेन्द्रिय जीव और एक त्रस—ऐसे छह प्रकार के संसारी जीव हैं; उन्हें छह काय के जीव कहते हैं। मैं त्रस जीव हूँ, इसलिए उन छह काय जीवों में मैं आ गया।

ज्ञानचन्दः—तब कहो कि आपके माने हुए प्रतिक्रमण को करने से आपके जीव की रक्षा हुई या नहीं, अर्थात् आपमें विकार दूर हुआ या नहीं?

करमचन्दः—मैं जीव का यथार्थ स्वरूप नहीं समझता, तब फिर मेरे जीव की रक्षा हुई—ऐसा कैसे कह सकता हूँ।

ज्ञानचन्दः—ज्ञानी कहते हैं कि जीव जब तक अपना स्वरूप न समझे, तब तक प्रति समय अपना भावमरण करता रहता है और इससे वह दुःख ही भोगता है। आप अपना स्वरूप नहीं समझे, इसलिए प्रतिसमय अपना भावमरण करते हो। बिना समझे होनेवाली प्रतिक्रमण की क्रिया के समय भी भावमरण तो चालू ही है; तब फिर आपके जीव की रक्षा कहाँ हुई? बिल्कुल नहीं हुई, परन्तु आपकी अरक्षा अर्थात् भावमरण हुआ। इस प्रकार छह काय के जीवों की रक्षा नहीं हुई।

करमचन्दः—परन्तु मैंने दूसरे जीवों को नहीं मारा, इतना लाभ तो हुआ न?

ज्ञानचन्दः—यह विषय विचारणीय है। आप जीव को तो पहिचानते नहीं हैं, तब फिर आपने उसे मारा या न मारा, यह प्रश्न उठता ही कैसे है ? और जो जीव जीते हैं, वे आपके या अपने कारण जीते हैं, वह निर्णय करने की आवश्यकता है, इसलिए आप क्या मानते हैं, वह कहिये!

करमचन्दः—मैंने इस सम्बन्ध में विचार करके सच्चा स्वरूप निश्चित नहीं किया है, इसलिए आप ही समझा दीजिए।

ज्ञानचन्दः—यदि युवक गहराई तक पहुँचकर सच्चा स्वरूप समझने के लिए परिश्रम करें तो बहुत प्रशंसनीय है, इसलिए आप धैर्यपूर्वक सुनकर, उस विषय में विचार करके सत्सासत्य का निर्णय करना। कोई कहता है, इसलिए मान लेना, यह तो अन्धश्रद्धा है और अन्धश्रद्धा, अज्ञान है, अविवेक है; इसलिए विचारवान जीवों को वह छोड़ना ही चाहिए।

करमचन्दः—आपकी बात यथार्थ है। अन्धश्रद्धा तो विमुखता है; विमुखता से लाभ नहीं होता। यथार्थ समझने की मुझे जिज्ञासा हुई है, इसलिए आप कहोगे, वह सुनकर मैं उस पर विचार करूँगा और फिर सत्यासत्य का निर्णय करूँगा।

ज्ञानचन्दः—बहुत अच्छा। यदि आप ऐसा करोगे तो असत्य से विमुख होकर सत्य को यथार्थतया पहिचान लोगे और वही सच्चा प्रतिक्रमण है, यदि वैसा होगा तो संवत्सरी प्रतिक्रमण आपको सच्चे रूप में होगा।

करमचन्दः—मेरा ऐसा विचार होता है कि—मुझे सच्चा प्रतिक्रमण (वीतराग की आज्ञानुसार) करना ही चाहिए। यदि वैसा नहीं करूँगा तो मेरा अमूल्य मनुष्यभव निरर्थक जाएगा।

ज्ञानचन्दः—ठीक, विचार कीजिए। कोई जीव किसी दूसरे

जीव को मारने में समर्थ है ? अनेक बार ऐसा होता है कि—जब एक आदमी दूसरे को मार डालने के लिए बन्दूक मारता है, तब वह मनुष्य तो नहीं मरता किन्तु अचानक ही कोई अनजान मनुष्य बीच में आ जाता है और वह गोली लगने से मर जाता है; उसका सिद्धान्त ऐसा होता है कि:—प्रत्येक जीव और उसका शरीर एक साथ रहने के योग्य हो, वहाँ तक निश्चित रहता ही है; लोग उसे जीवन कहते हैं। जीव और शरीर यदि साथ रहने योग्य न हों तो पृथक् हो जाते हैं; उसे लोग मरण कहते हैं।

यहाँ इतना अवश्य लक्ष्य में रखना है कि—एक मनुष्य ने दूसरे को मारने—खून करने का विचार किया, और उस विचार की पूर्णता के लिए दूसरे मनुष्य को गोली मारी, परन्तु दूसरा मनुष्य बच गया; यद्यपि वहाँ कोई शारीरिक दु:ख नहीं हुआ, तथापि जिस जीव ने खून करने का भाव किया, उसने स्वयं अपनी हिंसा की ही है, क्योंकि उसने तीव्र अशुभभावों का सेवन करके अपनी शुद्धता की हत्या की है। अपने विकारी भावों से अपने को लाभ होता है—ऐसी विपरीत पकड़ से अज्ञानी जीव अपने गुणों की हत्या कर रहे हैं, और उसका नाम भावमरण है; इस प्रकार दूसरा जीव चाहे मरे या बचे, परन्तु जिस जीव ने मारने का भाव किया, उसने अपनी हिंसा तो की ही है।

करमचन्द:—आपकी बात समझ में आ गयी। आपने जो उदाहरण दिया, वह तो अशुभभाव का है परन्तु बिना समझे प्रतिक्रमण करनेवाले ने तो किसी जीव को मारने का भाव नहीं किया है; उसका क्या ?

ज्ञानचन्द:—कोई जीव स्वत: दूसरे को लाभ-हानि नहीं कर सकता, परन्तु अपने भावों में न्यूनाधिकता कर सकता है—ऐसा बताने के लिए उपरोक्त दृष्टान्त दिया था। जिस प्रकार एक जीव दूसरे जीव का बुरा नहीं कर सकता; उसी प्रकार भला भी नहीं कर सकता।

वह दूसरे जीवों को दुःख न देने का भाव करे तो वह शुभभाव है और प्रतिकूलता देने का भाव करे तो अशुभभाव है। शुभाशुभभाव मेरा है, वे करने योग्य है—ऐसी जिस जीव की दृढ़ पकड़ है, वह संसार का मूल है और जब तक उसे नष्ट न किया जाए, तब तक संसार बना रहता है। अपना यथार्थ स्वरूप समझे बिना वह दूर नहीं होता। उस भूल को शास्त्रीय भाषा में मिथ्यात्व कहते हैं। मिथ्यात्व ही संसार है—वही परिग्रह है और उससे विमुख होना, वह मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण है।

करमचन्दः—आपका कहना मैं समझ गया; आप ऐसा कहना चाहते हो कि—(१) एक वस्तु दूसरी वस्तु का कुछ नहीं कर सकती और उसे लाभ-हानि भी नहीं कर सकती। जीव और अजीव भी वस्तुएँ हैं, इसलिए जीव, पुद्गल का या दूसरे जीव का कुछ नहीं कर सकता; पुद्गल, जीव को कुछ लाभ या हानि नहीं पहुँचा सकता।

(२) इस प्रकार मान्यता होने से जगत के अनन्त पदार्थों पर अपना स्वामित्व, जिसे जीव विमुखता से मानता था, वह दूर हो जाता है।

(३) प्रत्येक जीव अपने को ही अपने भाव से लाभ-हानि कर सकता है।

(४) यदि अपना स्वरूप समझे तो अपने को लाभ हो और यथार्थ प्रतीति करने को आप 'मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण' कहते हो। यह सब बातें ठीक हैं?

ज्ञानचन्दः—हाँ, आपने कहा वह सब बराबर है, परन्तु अपना स्वरूप समझना चाहिए—ऐसा कहने से, स्वरूप समझ में नहीं आता; इसलिए उसका उपाय जानना चाहिए।

करमचन्दः—यह बात सच है। उसके लिए क्या उपाय है, वह समझाइये!

ज्ञानचन्दः—प्रथम तो आत्मज्ञानी पुरुष से आत्मा का स्वरूप बराबर समझना चाहिए। आत्मा त्रिकाली अखण्ड शुद्ध चैतन्य चमत्कारमात्र ध्रुवरूप है; मात्र अपनी वर्तमान वर्तती अवस्था में वह प्रतिक्षण खण्ड-खण्ड ज्ञान और नवीन विकार करता है। उस ओर का लक्ष्य गौण करके विपरीत अभिप्रायरहित तत्त्वार्थों का निर्णयसहित त्रिकाली-ध्रुव-चैतन्य की ओर उपयोग लगाकर उसी में एकत्व-अनुभव करे तो सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। सम्यग्दर्शन का प्रगट करना, वह मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण है; इसलिए इस सम्बन्ध में विचार करके-सत्यासत्य का निर्णय करके सम्यग्दर्शन प्रगट करना चाहिए।

करमचन्दः—प्रतिक्रमण का पाठ कितने ही लोग बोलते हैं, उसमें मैंने निम्नानुसार बोलते हुए सुना है:—'मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण-अव्रत का प्रतिक्रमण-कषाय का प्रतिक्रमण-प्रमाद का प्रतिक्रमण'। यदि पहले मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण न करें और दूसरे प्रतिक्रमण करें तो कैसा रहे ?

ज्ञानचन्दः—मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण हुए बिना अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट किये बिना किसी जीव को सच्चे व्रत नहीं होते। बालव्रत-बालतप होते हैं परन्तु वे कहीं धर्म नहीं हैं, वे तो अधर्म हैं। तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण हुए बिना दूसरा कोई प्रतिक्रमण हो ही नहीं सकता। इस कारण आत्मा का स्वरूप समझने की अत्यन्त आवश्यकता है।

करमचन्दः—आपने कहा वह बराबर है। हमारे जैसे युवकों को अपना कार्यक्षेत्र बदलने की आवश्यकता है। यथार्थ प्रतीति कर लेने की आवश्यकता है। प्रत्येक जगह सम्यग्ज्ञान की प्याऊ लगाने का कार्य अवश्य करना चाहिए।

ज्ञानचन्दः—युवक और वृद्ध—यह तो शरीर की अवस्थाएँ हैं।

जीव से शरीर पर है; इसलिए उस परवस्तु का लक्ष्य छोड़कर प्रत्येक जीव को अपना स्वरूप समझने का प्रयास-सत्य पुरुषार्थ करना चाहिए। और अपने स्वरूप में स्थिर न रह सके, उस समय अपने में अशुभभाव न हों, उसके लिए ज्ञान की रुचि बढ़ाने का प्रयास करना चाहिए। वैसे भाव जगत के जीव प्राप्त कर सकें, उसके लिए सम्यग्ज्ञान की प्याऊ स्थान-स्थान पर खोली जाएँ, उनकी पुष्टि हो और वृद्धि को प्राप्त हों—वैसी भावना करना चाहिए।

करमचन्दः—युवक और वृद्ध यह शरीराश्रित अवस्थाएँ हैं—यह बात ठीक है। समस्त जीव अनादि के हैं, इससे कोई छोटा-बड़ा नहीं है। इसलिए सर्व जीवों को अपना स्वरूप समझकर अपने अज्ञान को टालने का प्रयास करना चाहिए, मिथ्यादर्शन दूर करना चाहिए। इस प्रकार जो करे, उसी के सच्चा प्रतिक्रमण हो सकता है, यह बात यथार्थ है। आहार-त्याग की प्रतिज्ञा अमुक समय के लिए लेना, वह पुण्य है, किन्तु वह सम्यक्तप नहीं है, क्योंकि जिसे अपने स्वरूप की खबर नहीं है, उसके तो बालतप होता है—ऐसा भगवान ने डंके की चोट कहा है, इसलिए मुझे मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण प्रथम ही करना चाहिए। यह मैं समझ गया। अपने मित्रों को भी सच्चा प्रतिक्रमण समझाने का प्रयत्न करूँगा। ●

प्रकरण : ३०
व्यवहार

१—**करमचन्दः**—शास्त्रों में 'व्यवहार' शब्द का अनेक स्थानों पर उपयोग किया जाता है—उसका अर्थ क्या है ?

ज्ञानचन्दः—'व्यवहार' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं; उनमें एक अर्थ ऐसा होता है कि—'अज्ञानी की पर के कर्तृत्व की मिथ्यामान्यता (प्रतिभास), वह व्यवहार है।'

करमचन्दः—आपने व्यवहार का जो अर्थ किया, वह अच्छी तरह समझ में आ जाए, उसके लिए विशेष स्पष्ट कीजिए।

ज्ञानचन्दः—वास्तव में जीव की प्रवृत्ति (क्रिया) और जड़-पदार्थों की प्रवृत्ति (क्रिया) भिन्न-बिल्कुल पृथक् है परन्तु जीव जब तक सच्चा ज्ञान प्रगट न करे, तब तक वह स्थूलदृष्टि से देखता है और इससे उनकी प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न होने पर भी एक समान दिखायी देती है। अज्ञानदशा में जीव को जीव और जड़ का भेदज्ञान (सच्चा ज्ञान) न होने से ऊपरी दृष्टि से जैसा दिखायी देता है, वैसा (गहरा विचार किये बिना) वह मान लेता है और इससे वह ऐसा मानता है कि जीव, जड़कर्म को करता है और भोगता है; श्रीगुरु भेदज्ञान कराके जीव का सच्चा स्वरूप बतलाकर अज्ञानी के इस प्रतिभास को 'व्यवहार' कहते हैं।

३—**करमचन्दः**—अज्ञानदशा में जीव कर्तापने में सम्बन्ध में क्या और कब से मानता है ?

ज्ञानचन्दः—इस जगत में अज्ञानदशा में जीवों का 'परद्रव्य को अथवा उसकी अवस्था को मैं करता हूँ'—ऐसे परद्रव्य के कर्तृत्व

का महा अहंकाररूप अज्ञानान्धकार (जो कि अत्यन्त अनन्त पुरुषार्थ द्वारा दूर किया जा सकता है), अनादि-संसार से चला आ रहा है।

४—**करमचन्दः**—एक वस्तु (जीव) परवस्तु (जड़) का कुछ भी क्यों नहीं कर सकती? यह समझाइये।

ज्ञानचन्दः—प्रत्येक वस्तु अपने से है, अपने वस्तुरूप (द्रव्य से), अपने से अपने प्रदेशरूप (क्षेत्र से=आकार से), अपने से अपनी अवस्थारूप (काल से) और स्वयं अपने से अपने गुणरूप (भाव से) है; और वह वस्तु परवस्तु के द्रव्य से-क्षेत्र से-काल से और भाव से नहीं है। अब जो एक वस्तु दूसरी वस्तु में द्रव्य से-क्षेत्र से-काल से और भाव से नहीं है, वह दूसरे का क्या कर सकती है? कुछ नहीं कर सकती—यह स्पष्ट है।

जो-जो वस्तुएँ हैं, वे-वे सर्वथा पर से भिन्न ही हैं, प्रदेशभेदवाली ही हैं। दोनों के क्षेत्र भिन्न ही रहते हैं। इस प्रकार स्वक्षेत्र से प्रत्येक द्रव्य अभिन्न और परक्षेत्र से भिन्न है, स्वकाल से अभिन्न और परकाल से प्रत्येक द्रव्य त्रिकाली भिन्न है, स्वभाव से प्रत्येक द्रव्य अभिन्न और परभाव से त्रिकाली भिन्न है, इससे कोई द्रव्य, कोई गुण या कोई पर्याय पर का कुछ नहीं कर सकते।

५—**करमचन्दः**—तब फिर जीव, परद्रव्य का कुछ कर सकता है - ऐसा मानना महा अहंकार है?

ज्ञानचन्दः—हाँ, वैसा ही है। स्वयं पर का कुछ नहीं कर सकता, तथापि करता हूँ—ऐसा मानता है। इसलिए उसे अहंकार कहा जाता है और वह मिथ्या मान्यता अनन्त संसार का (दुःख का) कारण है; और उसे दूर करने के लिए अनन्त पुरुषार्थ की आवश्यकता है।

६—**करमचन्दः**—इस महा अहंकार को अज्ञान-अन्धकार क्यों कहा जाता है?

ज्ञानचन्दः—क्योंकि स्वयं अपना सच्चा ज्ञान नहीं किया और स्वतन्त्र अस्तित्व को, स्व को भूल जानेरूप महान भूल की, इसलिए उसे महा अहंकाररूप अज्ञान-अन्धकार कहा जाता है।

करमचन्दः—तब तो ऐसा हुआ कि महा अहंकाररूप अज्ञानान्धकार को अज्ञानी का प्रतिभास और उस प्रतिभास को 'व्यवहार' कहा जाता है—ऐसा सिद्ध हुआ। यह ठीक है न?

ज्ञानचन्दः—हाँ, ऐसा ही है।

७—**करमचन्दः**—इस सम्बन्ध में जो शास्त्राधार हो, वह बतलाइये।

ज्ञानचन्दः—हाँ, शास्त्राधार है। श्री समयसार की गाथा ८४ से ८६ की टीका-भावार्थ और कलश ५१ से ५६ तक पढ़कर विचार करने से वस्तु का स्वरूप यथार्थतया समझा जा सकेगा।

करमचन्दः—इस महा अहंकार को दूर करने का उपाय क्या है?

ज्ञानचन्दः—यह महा अहंकाररूप जो अज्ञानान्धकार है, वह अज्ञानी का प्रतिभास है, इसलिए उसे व्यवहार कहा जाता है। इसलिए निश्चय के आश्रय द्वारा व्यवहार को जैसा है, वैसा-(यथावत्) जानकर पराश्रयरूप व्यवहार की श्रद्धा छोड़ने से और एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता—ऐसा निश्चित् करके अपने त्रिकाली ध्रुव स्वभाव का आश्रय लेने से वह महा अहंकाररूप अज्ञानान्धकार दूर हो सकता है।

करमचन्दः—उपरोक्त उपाय को शास्त्र की परिभाषा में क्या कहते हैं?

ज्ञानचन्दः—परमार्थ (सत्यार्थ-भूतार्थ-निश्चयनय) के ग्रहण से वह अज्ञानान्धकार दूर हो जाता है—ऐसा शास्त्र परिभाषा में कहा जाता है।

८—**करमचन्दः**—इस सम्बन्ध में जो आधार हो, वह बताइये।

ज्ञानचन्दः—श्री समयसार गाथा ११ की टीका-भावार्थ; तथा कलश ५५ का अर्थ-भावार्थ पढ़ने से आपको ज्ञात हो जाएगा।

करमचन्दः—वह महा अहंकार दूर करने के लिए अनन्त पुरुषार्थ चाहिए - ऐसा क्यों कहते हैं?

ज्ञानचन्दः—'जीव पर का कुछ नहीं कर सकता'—ऐसा प्रथम सुनते ही जीव चकचौंधिया जाता है, और 'यह मेरे लिए नहीं है, अभी के लिए नहीं है, यह तो उच्च दशावाले और केवलियों के लिए है' इत्यादि मिथ्या कल्पनाएँ करके उस ओर रुचि नहीं करता किन्तु उससे घृणा करता है; इससे उसे दूर करने के लिए अनन्त पुरुषार्थ की आवश्यकता है—ऐसा कहा है।

जीव ने अनादि काल से ऐसा भ्रम पकड़ रखा है कि 'परद्रव्यों को और उनके भावों को (अवस्थाओं को) मैं कर सकता हूँ,' और अपने आप अज्ञानी हो रहा है। श्रीगुरु परभावों का विवेक (भेदज्ञान) करके उससे बारम्बार कहते हैं कि—'तू आत्मस्वरूप है, तू पर का कुछ नहीं कर सकता; इसलिए शीघ्र जागृत हो! सावधान हो जा!

यदि जीव इस कथन को रुचिपूर्वक बारम्बार सुने और भलीभाँति परीक्षा करके सच्चा ज्ञान करे तो अज्ञान दूर हो, इससे यह समझने के लिए अनन्त पुरुषार्थ की आवश्यकता है—यह सिद्ध होता है। जो ऐसा पुरुषार्थ करे, वह जान सकता है कि जीव पुद्गलकर्म का कर्ता नहीं हो सकता। तथापि अज्ञानी वैसा मानता है, यह बताने के लिए शास्त्र में जीव को असद्भूत (मिथ्या) व्यवहारनय से कर्म का कर्ता कहा है, परन्तु सद्भूत (सच्चे) व्यवहारनय से वह जीव अपने शुद्ध भावों का ही कर्ता है। ●

प्रकरण : ३१
प्रश्न और उत्तर

प्रश्नः—संसार में किसका राज्य चल रहा है?

उत्तरः—अपने स्वरूप के भ्रम का।

प्रश्नः—संसार में बहुमत किसका?

उत्तरः—स्वरूप के भ्रमवाले जीवों का।

प्रश्नः—उस भ्रम में प्रमुख कौन?

उत्तरः—द्रव्यलिंगी मुनि; उसे संसारतत्त्व कहा जाता है।

प्रश्नः—द्रव्यलिंगी मुनि, परजीव की हिंसा करता है?

उत्तरः—बिल्कुल नहीं; वह छह काय जीवों की दया पालता है, अतिचाररहित अहिंसा व्रत का पालन करता है।

प्रश्नः—द्रव्यलिंगी मुनि असत्य बोलता है, चोरी करता है, मैथुन करता है या परिग्रह रखता है?

उत्तरः—बिल्कुल नहीं; वह सभी व्रत अतिचाररहित पालन करता है।

२—**प्रश्नः**—इतना करने पर भी धर्म क्यों नहीं होता?

उत्तरः—स्वरूप का भ्रम होने से धर्म नहीं होता—यह प्रगट ही है।

प्रश्नः—तब क्या जीव दया पाले, असत्य बोले, चोरी करे, अब्रह्मचर्य सेवन करे, परिग्रह रखे तो धर्म हो?

उत्तरः—आपका प्रश्न अधीरता और विपरीतता बतलाता है;

आपने कहा वह सब तो पाप है, उससे धर्म होता ही नहीं—यह तो आर्यावर्त का बच्चा भी समझता है।

३—**प्रश्नः**—तब फिर धर्म कब होता है?

उत्तरः—अपने स्वरूप की यथार्थ पहिचान करना और भ्रम दूर करना, वह धर्म का प्रारम्भ है, उस स्वरूप में स्थिर रहना, वह साधकदशा है और सम्पूर्ण स्थिरता लाना, वह धर्म की पूर्णता है।

प्रश्नः—द्रव्यलिंगी मुनि भव्य होता है या अभव्य?

उत्तरः—भव्य भी होता है और अभव्य भी।

प्रश्नः—यह जीव पूर्व में कभी द्रव्यलिंगी मुनि हुआ होगा?

उत्तरः—हाँ, अनन्त बार।

४—**प्रश्नः**—द्रव्यलिंगी मुनि को संसारतत्त्व कहा जाता है, उसका कुछ आधार है?

उत्तरः—हाँ, श्री प्रवचनसार, अध्याय ३, गाथा ७१ में निम्न प्रकार कहा है:—अब इन पाँच में से प्रथम संसारतत्त्व को कहते हैं:—

ये अयथागृहितार्थ एते, तत्वमिति निश्चिताः समये।
अत्यंत फल समुद्धं भ्रमन्ति, ते अतः परं कालम्॥७१॥

जो भले ही समय में हो (-भले ही वे द्रव्यलिंगी के रूप में जिनमत में हो), तथापि वे 'यह तत्त्व है'—इस प्रकार निश्चयवंत वर्तते हुए पदार्थों को अयथार्थरूप से ग्रहण करते हैं, वे श्रमणाभास मुनि हैं और वह अनन्त भ्रमणरूपी फल से समृद्ध होकर अनन्त काल तक भटकते हैं।

भावार्थः—जो अज्ञानी मुनि मिथ्याबुद्धि से पदार्थों की श्रद्धा नहीं करता—अन्य की अन्य कल्पना करता है और सदैव मोहमल्ल (मिथ्यादर्शन) के कारण चित्त की मलिनता से अविवेकी है, उसने

यद्यपि द्रव्यलिंग धारण किया है, तथापि परमार्थ (सच्चे) मुनित्व को वह प्राप्त नहीं हुआ है। वह मुनि जैसा प्रतीत होता है, तथापि अनन्त काल तक अनन्त परावर्तन करके भयानक कर्मफल भोगता हुआ परिभ्रमण करता है, इससे उस श्रमणाभास मुनि को संसारतत्त्व जानना; अन्य कोई संसारतत्त्व नहीं है परन्तु जो जीव मिथ्या बुद्धिवाला है, वही संसार है।

प्रश्नः—बाह्यलिंग से मुनिपना या ज्ञानीपना निश्चित् हो सकता है या नहीं?

उत्तरः—नहीं हो सकता; वह ऊपर आ गया है।

५—**प्रश्नः**—जीवादि तत्त्वों को समझने के लिए इस काल में कौन योग्य है?

उत्तरः—प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करने योग्य ज्ञानावरण का क्षयोपशम (ज्ञान का विकास) तो सर्व संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को होता है, इसलिए वे योग्य हैं।

६—**प्रश्नः**—तब फिर सर्व संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान क्यों नहीं होता?

उत्तरः—जो-जो संज्ञी जीव प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों का यथार्थ निर्णय करने के लिए अपने ज्ञान में पुरुषार्थ करता है, उसे सच्ची श्रद्धा होती है और जो-जो संज्ञीजीव प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों का यथार्थ निर्णय करने के लिए अपने ज्ञान में पुरुषार्थ नहीं करते, परन्तु परज्ञेयों को जानने में उस ज्ञान को रोकने से असत्यार्थ पुरुषार्थ करते हैं, उन्हें प्रयोजनभूत जीवादितत्त्वों का श्रद्धान नहीं होता।

क्षयोपशमज्ञान जहाँ लगे, वहाँ एक ज्ञेय में लगता है। यदि अपने स्वरूप को जानने की ओर उस ज्ञान को लगाये तो उसका ज्ञान हो और यदि परज्ञेय को जानने की ओर स्वतः अपने ज्ञान को लगाये तो

ज्ञान परज्ञेय में लगे। परद्रव्य अनन्तानन्त हैं, एक-एक ज्ञेय में ज्ञान को रोके तो कभी भी उसे बराबर नहीं जानेगा। स्व को यथार्थतया जाने बिना पर का यथार्थ ज्ञान नहीं होता; इसलिए जो संज्ञीजीव अपना पुरुषार्थ स्वोन्मुख नहीं करते, उन्हें यथार्थ श्रद्धा-ज्ञान नहीं होते।

७—**प्रश्नः**—धर्म के उपदेश में काहे की मुख्यता होना चाहिए?

उत्तरः—मिथ्यात्व जो महापाप है, उसकी प्रवृत्ति छुड़ाने की मुख्यता होना चाहिए। कितने ही विषयों में हिंसा बतायी है, उसे छुड़ाने की मुख्यता करना, यह क्रमभंग उपदेश है। जो दया के कितने ही अंग योग्य पालते हैं, हरितकाय आदि का त्याग करते हैं, जल का उपयोग कम करते हैं, उनका निषेध नहीं समझना चाहिए। यहाँ तो मिथ्यात्व का महापाप छुड़ाने की प्रवृत्ति की मुख्यता होना चाहिए—यह बताना है। यदि उसकी मुख्यता न की जाए तो वे जीव दया के नाम पर कितने ही अंग पालन करने में सारा जीवन व्यतीत करेंगे, और समीचीन धर्म के प्रारम्भरूप सम्यग्दर्शन को प्राप्त नहीं कर सकेंगे। इस प्रकार उनका अमूल्य मनुष्यजन्म असफल होगा और संसार-चक्र में फँसे रहेंगे। ●

प्रकरण : ३२

धर्म की क्रिया प्रगट करने के लिए सम्यग्दर्शन की भावना करे!

— १ —

सम्यग्दर्शन सम्पूर्ण दु:ख का नाश करता है, इसलिए हे जीव! तू इसमें प्रमादी न बन।

शंका:—सम्यग्दर्शन से सर्व दु:खों का नाश किस प्रकार होता है?

समाधान:—सम्यग्दर्शन है, वह ज्ञान-चारित्र-वीर्य और तप का आधार है। इसलिए वह सम्पूर्ण दु:खों का नाश करता है—ऐसा समझना।

शंका:—परिणाम, परिणामी द्रव्य के आधार से रहता है, इससे अन्योन्य आधार नहीं होता; तथापि आप सम्यक्त्व-परिणाम ज्ञानादि-परिणामों का आधार है—ऐसा कैसे कहते हो?

समाधान:—जिस प्रकार परिणमनशील द्रव्य के बिना (आत्मा के बिना) ज्ञानादिक नहीं रहते, उसी प्रकार ज्ञान-चारित्र-वीर्य और तप को सम्यग्दर्शन के बिना सम्यक्पना प्राप्त नहीं होता, इसलिए सम्यग्दर्शन को आधार माना है।

— २ —

जिस प्रकार नगर में प्रवेश करने का उपाय दरवाजा है, उसी प्रकार आत्मा में ज्ञान, चारित्र, वीर्य और तप का प्रवेश होने के लिए सम्यग्दर्शन द्वार समान है; अर्थात् जब आत्मा में सम्यक्त्व की

उत्पत्ति होती है, तब उसमें ज्ञानादिक का प्रवेश होता है। सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान, सम्यग्त्प, सम्यक्चारित्रादि की प्राप्ति होती ही नहीं। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न होने से, जीव को अवधि आदि विशिष्ट ज्ञान, यथाख्यातचारित्र, कर्म की अतिशय निर्जरा करनेवाला तप प्राप्त नहीं होता। जिस प्रकार मुँह को आँखों से सुन्दरता प्राप्त होती है, वैसे ही ज्ञानादिकों में सम्यग्दर्शन से सम्यक्पना प्राप्त होता है। जिस प्रकार वृक्ष को जड़ से दृढ़ता मिलती है; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन से ज्ञानादिकों को स्थिरता-दृढ़ता प्राप्त होती है।

— ३ —

जो जीव सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है, उसी को भ्रष्ट समझना चाहिए। दर्शनभ्रष्ट जीव को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। चारित्र-भ्रष्ट जीव मुक्ति प्राप्त कर सकता है, परन्तु दर्शन भ्रष्ट जीव को मुक्तिलाभ नहीं होता।

जो जीव सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है, उसे भ्रष्टतम कहा जाता है। चारित्रभ्रष्ट जीव दर्शनभ्रष्ट नहीं माना जाता अर्थात् चारित्रभ्रष्ट जीव से दर्शनभ्रष्ट जीव अतिशय भ्रष्ट है। जो चारित्र से भ्रष्ट होता है, परन्तु सम्यग्दर्शन से च्युत नहीं होता, उसे संसार-पतन नहीं है।

शंका:—असंयम से उत्पन्न हुए पाप के भार से जीव को संसार में भ्रमण करना ही पड़ता है, तथापि चारित्रभ्रष्ट जीव को संसार-पतन नहीं है—ऐसा आप कैसे कहते हैं?

समाधान:—चारित्रभ्रष्ट जीव चारों गतियों में भ्रमण नहीं करता। उसका संसार अल्प रहता है, इससे उसे संसार नहीं है—ऐसा कहा जाता है। जैसे, किसी के पास थोड़ा धन हो तो वह धनवान नहीं कहलाता, परन्तु दर्शनभ्रष्ट मनुष्य तो अनन्तानन्त संसार में परिभ्रमण करता है, इससे वह निकृष्ट है।

— ४ —

शंका—कांक्षादि अतिचारों से रहित, अविरत सम्यग्दृष्टि को भी

तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध होता है। अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध-मान-माया और लोभ के उदयवश होनेवाले परिणामों में हिंसादिक से विरक्ति उत्पन्न न होने पर भी, अकेला निरतिचार सम्यग्दर्शन धारण करनेवाले मनुष्य को गृहस्थदशा में भी तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध होता है।

शंका:—विनय सम्पन्नता आदि अन्य कारणों से भी तीर्थंकरत्व की प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन से ही होती हो—ऐसी उसमें क्या विशिष्टता है?

उत्तर:—सम्यग्दर्शन हो, तब विनय-सम्पन्नतादिक तीर्थंकर कर्मबन्ध का कारण होते हैं; नहीं तो उनमें (विनय-सम्पन्नतादि) कारणत्व नहीं है। मात्र सम्यग्दर्शन की सहायता से ही श्रेणिक राजा भविष्य काल में अरिहन्त होंगे।

शंका:—श्रेणिक राजा को भविष्यकाल में अरिहन्त होना है, उन्हें अरिहन्त दशा प्राप्त नहीं हो चुकी है, तथापि आप यह कैसे कहते हैं कि वे अरिहन्त हो गये?

उत्तर:—भविष्य काल के अरिहन्त इस समय निष्पन्न नहीं हुए हैं, तथापि वे निश्चित होने ही वाले हैं, इससे यही कहना योग्य है कि वे हो गये हैं।

— ५ —

इस निर्मल सम्यग्दर्शन की भूमिका में राग के कारण इन्द्र पद चक्रवर्ती पद, अहमिन्द्र पद तथा तीर्थंकर पद—ऐसी कल्याण परम्परा से उत्तरोत्तर पदवी मिलती है। यह सम्यक्त्वरत्न इतना बहूमूल्य है कि देव और असुरों सहित यह सम्पूर्ण लोक भी अर्पण किया जाए तो भी उसका मूल्य नहीं चुकाया जा सकता; अर्थात् सम्पूर्ण त्रिलोक देने पर भी सम्यक्त्वरत्न नहीं मिलता।

एक ओर सम्यग्दर्शन का लाभ और दूसरी ओर तीन लोक का लाभ—दोनों लाभों में सम्यग्दर्शन का लाभ श्रेष्ठ है। तीन लोक का लाभ होने पर भी वह अल्प काल में ही नष्ट हो जाता है; परन्तु सम्यग्दर्शन का लाभ जीव को अविनाशी सुख देनेवाले मोक्ष की प्राप्ति कराता है।

इसलिए सम्यग्दर्शन का लाभ त्रिलोक के लाभ से श्रेष्ठ है, उसे प्राप्त करने के प्रत्येक जीव को प्रयत्न करना चाहिए। ●

प्रकरण : ३३

अधर्म की क्रिया को दूर करने के लिए मिथ्यात्व का वमन करो!

— १ —

संसार का मूलकारण मिथ्यात्व ही है, अर्थात् मिथ्याश्रद्धा ही संसार का मूल है। इसलिए हे जीव! तू उसका त्याग कर। गुणों से युक्त बुद्धि को भी मिथ्यात्व मुग्ध मूर्च्छित कर देता है।

शंका:—मिथ्यात्व को आप सर्व दोषों में प्रथम कहते हो, वह योग्य नहीं है। जैसे मिथ्यात्व अपने कारण से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार असंयमादि की उत्पत्ति भी स्वत: अपने कारण से होती है; इसलिए मिथ्यात्व का दोष प्रथम और चारित्र का दोष पश्चात् उत्पन्न होता है—ऐसा कहना असत्य है, क्योंकि आत्मा में सदैव आठों कर्मों का सद्भाव है।

उत्तर:—सामान्यरूप से सूत्रकार ने

मिथ्यात्वाविरति प्रमाद कषाय योगा बंध हेतव:

इस सूत्र में मिथ्यात्व को प्रथम स्थान दिया है; अर्थात् बन्ध के कारणों से मिथ्यात्व का प्रथम उल्लेख है। संसार बन्धपूर्वक है और संसार का मूलकारण मिथ्यादर्शन है।

— २ —

यह मिथ्यात्व, बुद्धि को विपरीत करता है। सुश्रुषा-सुनने की इच्छा, शास्त्र श्रवण करना, श्रवण करके उसे हृदय में धारण करना, कालान्तर में भी धारण किये हुए को न भूलना—इत्यादि बुद्धि के

गुण हैं। मिथ्यात्व उन्हें भी विपरीत करता है, अर्थात् बुद्धि और सुश्रुषादिक उसके कारण भी मिथ्यात्व के सहवास से विपरीत हो जाते हैं।

— ३ —

इसलिए हे जीव! तू इस मिथ्यात्व का त्याग कर और सम्यक्त्व की आराधना में अपने को स्थिर कर।

शंका:—जो वस्तु जिस स्वरूप की धारक नहीं है, उसे ज्ञान अन्यरूप क्यों जानेगा?

समाधान:—ज्ञान विपरीत भी होता है, क्योंकि ज्ञान को विपरीत करने का कारण मिलता है। दृष्टान्त:—जब सूर्य की प्रचण्ड किरणों से पृथ्वी अत्यन्त गर्म होती है, तब उसकी उष्णता सूर्य की किरणों में मिश्र होकर पानी समान दिखायी देती है। तृषा से जिनकी आँखें संतप्त हो रही हैं—ऐसे हिरनों को उस समय सूर्य की किरणों में जल का आभास होने लगता है, उसी प्रकार मिथ्यात्वदशा में इस जीव को असत्य पदार्थ भी सत्य भासित होने लगता है। मिथ्यात्वग्रस्त जीव अतत्त्व को तत्त्वरूप समझता है।

— ४ —

मिथ्यात्व से उत्पन्न हुई भ्रमणा की अपेक्षा, धतूरे के सेवन से उत्पन्न होनेवाला उन्मत्तपना श्रेष्ठ है; मिथ्यात्व से उत्पन्न हुआ उन्मत्त अनेक कुयोनियों में जन्म-मरण की वृद्धि करता है। धतूरे के सेवन से उत्पन्न हुआ पागलपन जन्म-मरण को नहीं बढ़ाता, और अल्प समय तक नशा रह सकता है। और इससे अनन्त काल तक विपरीत स्वरूप दिखानेवाले मिथ्यात्वजन्य मोह परिणाम जो अत्यन्त निकृष्ट हैं—ऐसा समझना चाहिए।

जन्म-मरण से भयभीत होनेवाले, हे जीवो! तुम इस दुष्ट मिथ्यात्व का त्याग करो।

— ५ —

अनादि काल से जीव में मिथ्यात्व चला आ रहा है; इससे इस जीव का सम्यक्त्व में रमण नहीं है। जीव को अनादि काल से इस मिथ्यात्व का ही स्वाद आ रहा है। इससे यह जीव सम्यक्त्व में नहीं रमता। इसलिए आचार्यदेव सम्यक्त्व में प्रयत्न करने का उपदेश इस जीव को बारम्बार करते हैं कि अनन्त काल से मिथ्यात्व का अभ्यास होने से उसका त्याग करने में भारी पुरुषार्थ की आवश्यकता है। जिस प्रकार सर्प को अपने चिरपरिचित बिल में प्रवेश करने पर रोकने से भी वह प्रविष्ट हो जाता है, उसी प्रकार इस जीव को मिथ्यात्व का त्याग करने के लिए और सम्यक्त्व में दृढ़ता लाने के लिए बारम्बार मिथ्यात्व के त्याग का उपदेश करना अयोग्य नहीं है।

— ६ —

अग्नि, विष और काले सर्प इत्यादि पदार्थों से भी जीव की उतनी हानि नहीं होती, जितनी महान् हानि मिथ्यात्व से होती है, अर्थात् तत्त्व में अश्रद्धा करने से संसार में भ्रमण करना पड़ता है।

अग्नि, विष और काले सर्प आदि पदार्थों से जीव की हानि एक ही भव में हो सकती है, परन्तु मिथ्यात्व से अनेक कोड़ाकोड़ी भवों में हानि होती है।

— ७ —

विष में बुझा हुआ बाण शरीर में प्रविष्ट होने से, उसका विष सारे शरीर में फैल जाता है और मनुष्य प्राणरहित हो जाता है, अर्थात् फिर उस पुरुष का कोई उपचार नहीं हो सकता; उसी प्रकार मिथ्यात्व की शल्य से बिंधा हुआ मनुष्य तीव्र वेदनाओं का अनुभव करता है।

— ८ —

यद्यपि मैं मिथ्यात्वयुक्त हूँ, तथापि मैंने दुर्द्धर चारित्र का पालन

किया है, इसलिए वह इस दीर्घ संसार से मेरा रक्षण करेगा, ऐसी आशा व्यर्थ है।

दृष्टान्त:—शोभायमान कड़बी तूम्बी में रखा हुआ दूध कड़वा हो जाता है, अर्थात् उसका मीठापन नष्ट हो जाता है; परन्तु शोभा रहित शुद्ध तूम्बी में रखा हुआ दूध कड़वा नहीं होता, वह मीठा रहता है।

— ९ —

उसी प्रकार मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत रुचि से विपरीत बने हुए जीव के तप, ज्ञान, चारित्र और वीर्य—यह गुण नष्ट हो जाते हैं अर्थात् मिथ्यात्वरहित तप, ज्ञान, चारित्र और वीर्य—यह मुक्ति का उपाय है; परन्तु प्रत्येक तपादिक मुक्ति का उपाय नहीं है। जब सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, तब तपादिक में सम्यक्पना आता है; उसके अभाव में तपादि में सम्यक्पना नहीं आ सकता। जिसने मिथ्यात्व का त्याग किया है—ऐसे समयग्दृष्टि जीव में तपादि सद्गुण सफल होते हैं; ऐसे तपश्चरण से इस लोक का सुख और फिर इन्द्रपद की प्राप्ति होती है तथा मोक्षसुख का लाभ भी मिलता है। पूर्ण शुद्धि होने से पूर्व आयु पूर्ण हो तो देव होकर—मनुष्यगति में दशांगी सुख में जन्म लेकर साधुपना अंगीकार करके मोक्षपद प्राप्त करता है, और उसी भव में पूर्ण शुद्धि करे तो उसी भव में मोक्ष प्राप्त करता है।

— १० —

भव्य और अभव्य—दोनों जीव अनन्त बार नवमें ग्रैवेयक में गये—यह शास्त्र का सामान्य कथन है। तब फिर प्रश्न यह उठता है कि जीव क्या करने से नवमीं ग्रैवेयक में जा सकता है ? उसका उत्तर नीचे दिया जाता है:—

सम्यग्दर्शनरहित शील और तप से परिपूर्ण तीन गुप्ति और पाँच समिति की सावधानी पूर्वक, अहिंसादि पाँच महाव्रतरूप व्यवहार

चारित्र का पालन करे—उसका फल नवमा ग्रैवेयक है, वह मिथ्यादृष्टि का उत्कृष्ट शुभभाव है। इसलिए जीव ने जो काम अनन्त बार किया और फिर वही कार्य करे तो उसका वही फल आएगा, अर्थात् संसार बना रहेगा; इससे यह विचार करना चाहिए कि जीव ने अनन्त काल में क्या नहीं किया है।

तटस्थ विचारक को ज्ञात होगा कि जीव ने शुद्धात्मा का स्वरूप नहीं समझा अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं किया, इसी से वह संसार में भटका है—अर्थात् इसी से उसका दुःख बना रहा। इसलिए सम्यग्दर्शन प्राप्त करना (पहले कभी न किया होने से) अपूर्व है—ऐसा निश्चित करके उसे प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ करना चाहिए। इससे ऐसा नहीं समझना कि पुण्य छोड़कर पाप करने के लिए कहा जा रहा है। शुद्धता प्राप्त न हो, तब तक पाप छोड़कर पुण्य में रहना चाहिए; परन्तु उसे धर्म या उसका कारण नहीं मानना चाहिए।

यह वस्तु ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि ज्ञान का विकास सम्यग्दर्शन नहीं है। ज्ञान का विकास भी जीव के अनन्त बार ऐसा हुआ है कि—ग्यारह अंङ्ग का ज्ञान प्राप्त किया; परन्तु शुद्ध ज्ञानमय आत्मा के ज्ञान से शून्य होने के कारण आत्मा ने अपने यथार्थ स्वरूप की श्रद्धा नहीं की। ज्ञान का विकास और स्वरूप की यथार्थ श्रद्धा—यह दोनों बिल्कुल भिन्न गुण हैं। सम्यक्त्व में लब्धि—उपयोग का भेद नहीं है लब्धि अर्थात् पदार्थों को जानने की शक्ति और उपयोग अर्थात् पदार्थ को जाननेरूप ज्ञान का व्यापार। व्रतादि आचरण न हो, तब तक मिथ्यात्व-अज्ञान है—ऐसा भी नहीं है कारण कि प्रत्येक गुण का कार्य क्षेत्र भिन्न है-स्वतन्त्र है। ●

प्रकरण : ३४
क्रिया : स्वरूप एवं प्रकार

क्रिया की सामान्य व्याख्या।

१—पर्याय का परिवर्तित होना, वह क्रिया है। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय प्रतिसमय बदलती ही रहती है। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय ही उसकी क्रिया है। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय अपने में ही होती है, परन्तु एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य में नहीं होती, दूसरे के आधार से हो, ऐसा नहीं है; इसलिए एक द्रव्य की क्रिया दूसरे द्रव्य में नहीं होती; उसी प्रकार एक द्रव्य की क्रिया दूसरा द्रव्य नहीं करता।

क्रिया के प्रकार

२—इस जगत में जड़ और चेतन—ऐसे दो प्रकार के द्रव्य हैं। द्रव्य की पर्याय ही क्रिया होने से क्रिया भी जड़ और चेतन—ऐसे दो प्रकार की है। जड़ द्रव्य की अवस्था वह जड़ की क्रिया और चेतन द्रव्य की (जीव की) अवस्था, वह चेतन की क्रिया अर्थात् जीव की क्रिया।

जीव की क्रिया दो प्रकार हैं—(१) रागादिभावरूप विकारी क्रिया और (२) रागादिभावरहित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप अविकारी क्रिया। विकारी क्रिया बन्ध का कारण है, इससे उसे 'बन्ध की क्रिया' भी कहा जाता है; और अविकारी क्रिया मोक्ष का कारण है, उसे 'मोक्ष की क्रिया' कहते हैं।

इस प्रकार कुल तीन प्रकार की क्रिया हुई—(१) जड़ की क्रिया (२) जीव की विकारी क्रिया और (३) जीव की अविकारी क्रिया।

जड़ की क्रिया

३—शरीर जड़ है, उसकी प्रत्येक क्रिया जड़ की क्रिया है। शरीर का हिलना-डुलना या स्थिर रहना, वह जड़ की क्रिया है, उसके कर्ता जड़ परमाणु हैं। आत्मा उसका कर्ता नहीं है। जड़ की क्रिया के साथ बन्ध या मोक्ष का सम्बन्ध नहीं है। शरीर की हलन-चलनरूप दशा या स्थिरतारूप दशा, उसमें बन्ध या मोक्ष की क्रिया नहीं है, अर्थात् शरीर की किसी भी क्रिया से आत्मा को बन्ध या मोक्ष, लाभ या अलाभ, सुख या दुःख नहीं होते, क्योंकि शरीर की क्रिया जड़ की क्रिया है। जैसे कपड़ों को ज्ञान-सुख-दुःख नहीं है, उसी प्रकार शरीर को भी नहीं है।

पहले शरीर की अवस्था घर में रहनेरूप हो और हलन-चलनादिरूप हो, पश्चात् अवस्था बदलकर धर्मस्थान में स्थिर रहनेरूप हो—वहाँ उसके परिवर्तन से अज्ञानी जीव धर्म मानते हैं। परन्तु जड़ की क्रिया बदली उससे आत्मा को धर्म नहीं है, पुण्य नहीं है और पाप भी नहीं है। शरीर की भाँति पैसा, वस्त्र या आहारादि का संयोग-वियोग होना, वह भी जड़ की क्रिया है; इससे धर्म, पुण्य या पाप नहीं होता। उस किसी भी क्रिया का कर्ता आत्मा नहीं है।

विकारी क्रिया

४—जीव की पर्याय में जो राग-द्वेष-मोह अज्ञानरूप भाव हों, वह जीव की विकारी क्रिया है; इस क्रिया को बन्ध की क्रिया कहा जाता है। शरीरादि जड़ की क्रिया से विकारी क्रिया नहीं होती और जीव की विकारी क्रिया से शरीरादि जड़ की क्रिया नहीं होती। राग-द्वेष-अज्ञानरूप भाव आत्मा की पर्याय में होते हैं, इसलिए आत्मा की ही पर्याय में वह विकारी क्रिया करने की योग्यता है। शरीर की क्रिया से पुण्य-पाप नहीं होते। पुण्य-पापरूप क्रिया बन्धन की

क्रिया है, उस क्रिया के द्वारा संसार मिलता है, मोक्ष टलता है और आत्मा के गुणों की पर्याय जलती है। अतः इस क्रिया से कभी धर्म नहीं होता। ये है तो दूसरे गुणों की क्रिया हो, ऐसा नहीं है। राग है तो ज्ञान या शरीर की क्रिया है—ऐसा नहीं है; ज्ञान है तो राग है, देह की क्रिया है—ऐसा नहीं।

प्रत्येक क्रिया की स्वतन्त्रता

५—**प्रश्नः**—पहले जड़ की क्रिया करे, पश्चात् धर्म होता है या नहीं? जैसे कि—पहले शरीर को धर्मस्थान तक ले आये, फिर धर्मश्रवण करे और फिर यथार्थ प्रतीति से धर्म होता है। इस प्रकार जड़ की क्रिया करना आया या नहीं?

उत्तरः—नहीं, जड़ की क्रिया के द्वारा धर्म नहीं होता। जड़ की क्रिया आत्मा करता ही नहीं, इससे जड़ की क्रिया के साथ आत्मा का सम्बन्ध ही नहीं है। उपरोक्त दृष्टान्त में शरीर की क्रिया बदली, उससे धर्म नहीं हुआ है। 'तत्त्व समझने के लिए जाना है'—ऐसा शुभभाव हुआ और धर्मस्थान पर गया, वहाँ निम्नानुसार क्रियाएँ हुईं। (१) शुभभाव हुआ, वह पुण्य है; वह विकारी क्रिया है। (२) शरीर का क्षेत्रान्तर हुआ, वह जड़ की क्रिया है। (३) आत्मा के प्रदेशों का क्षेत्रान्तर हुआ, वह आत्मा की विकारी क्रिया है। (४) सत् श्रवण की ओर का लक्ष्य, वह शुभभावरूप विकारी क्रिया है। यह चार क्रियाएँ हुईं, वहाँ तक तो अभी धर्म नहीं हुआ है। धर्म श्रवण के लक्ष्य से भी हटकर स्व की ओर लक्ष्य करे और अपने शुद्ध आत्म स्वभाव की महिमा लाकर निर्णय करे तो वह अविकारी क्रिया है, वही धर्म है। जड़ की क्रिया, आत्म-प्रदेशों की क्षेत्रान्तररूप क्रिया और शुभरागरूप विकारी क्रिया—इन सभी से यह धर्म की क्रिया भिन्न है।

इसी प्रकार किसी जीव को यश या धन कमाने आदि की अशुभ

भावना हुई और शरीर की क्रिया भी हुई, तो वहाँ भी जो शरीर की क्रिया है, वह जड़ की स्वतन्त्र क्रिया है, उससे जीव को लाभ या हानि नहीं है। और जो अशुभभाव हुए, वह जीव की विकारी क्रिया है, उससे जीव को हानि है। अशुभभाव के कारण भी शरीर की क्रिया नहीं होती।

अशुभ परिणामों से पाप, और शुभ परिणामों से पुण्य—इन दोनों का समावेश विकारी क्रिया में होता है और दोनों के समय शरीर की जो क्रिया है, वह स्वतन्त्र जड़ की क्रिया है। मेरे परिणाम के कारण जड़ की क्रिया हुई—ऐसा माने तो मिथ्या है, और पुण्य परिणाम के कारण धर्म की क्रिया हुई—ऐसा माने तो भी मिथ्या है।

धर्मस्थान में शरीर दो घड़ी स्थिर रहकर बैठा, वह जड़ की क्रिया है, उस समय यदि अन्तरंग में शुभपरिणाम हों तो पुण्य है, किन्तु उस समय यदि घर-व्यापारादि सम्बन्धी अशुभ विचार करता हो तो वह पाप है; पुण्य-पाप दोनों अशुद्धभाव हैं, विकार हैं, दोष है, उससे धर्म नहीं है—ऐसा भाव भासन सहित आत्मभान वर्तता हो तो उसी समय जितने अंश में जीव स्वसन्मुख रहे, उतने अंश में अविकारी धर्मक्रिया है, वह क्रिया मोक्ष की उत्पादक है। पुण्य-पाप दोनों बन्धन की क्रिया है, वह क्रिया संसार की उत्पादक है। किसी जीव ने अशुभपरिणाम तो छोड़ दिये और जिनेन्द्रदेव, निर्ग्रन्थ गुरु एवं सत्शास्त्र के लक्ष्य से शुभराग किया तथा उसमें धर्म माना, तो वह जीव एकान्त बन्धन की ही क्रिया कर रहा है, उसके अधर्म क्रिया ही वर्त रही है—फिर चाहे वह चल रहा हो या स्थिर हो, त्यागी हो या गृहस्थ हो, भोजन लेता हो या उपवासी हो।

अविकारी क्रिया

६—अविकारी क्रिया का अर्थ है—धर्म की क्रिया अथवा मुक्ति

की क्रिया। लोग कहते हैं कि क्रिया से धर्म होता है; परन्तु किसकी क्रिया और कौन सी क्रिया? जड़ की क्रिया या चेतन की? विकारी क्रिया या अविकारी? जड़ की क्रिया, विकारी क्रिया और अविकारी क्रिया के स्वरूप का जिसे भान नहीं है, वह धर्म की क्रिया कहाँ से करेगा?

मुक्ति की क्रिया में पर के साथ तो सम्बन्ध नहीं है और परोन्मुखता से जो भाव होते हैं, उनके साथ भी सम्बन्ध नहीं है। मुक्ति की क्रिया में पर के ऊपर या विकार के ऊपर दृष्टि नहीं होती, परन्तु पर से और विकार से भिन्न अपने असंयोगी, अविकारी त्रिकाल अभेद एकरूप ज्ञायकस्वभाव पर ही दृष्टि होती है। विकारी क्रिया भी आत्मा की भूलरूप वर्तमान दशा है और उसी समय साधक को आंशिक स्वाश्रयरूप अविकारी क्रिया भी है, जो आत्मा की वर्तमानदशा है। आत्मा की जो वर्तमानदशा में स्वभाव के साथ के एकत्व से च्युत होकर परलक्ष्य में और पुण्य-पाप में रुकती है, वही विकारी क्रिया है, वह संसार है, मोक्ष की घातक है, सुख की हर्ता है और दुःख की दातार है। और आत्मा की जो दशा जितने अंश में पराश्रय से छूटकर-दूर रहकर अर्थात् स्वलक्ष्य से अपने त्रिकाली स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान-स्थिरता में स्थित है, वही अविकारी क्रिया है, वह धर्म है, मोक्ष की उत्पादक और संसार की घातक है; सुख की दातार और दुःखों की हर्ता है। एक साथ में एक ही पर्याय में मिथ्या श्रद्धा-ज्ञान और सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान हो, ऐसा नहीं हो सकता किन्तु नीचे साधकदशा में एक समय में स्वाश्रयी ज्ञानभाव और आंशिक पराश्रयरूप विकारी भाव हो सकते हैं।

७—विकारी क्रिया या अविकारी क्रिया—यह दोनों एक-समय पर्यन्त की जीव की अवस्था है, परन्तु उन दोनों के आश्रय और लक्ष्य में अन्तर है। अविकारी क्रिया का आश्रय और लक्ष्य त्रिकाली शुद्ध

स्व-स्वभाव है और विकारी क्रिया का लक्ष्य परद्रव्य तथा पुण्य-पाप है। जड़ के कर्तृत्व की बात तो दो में से एक भी क्रिया में नहीं है। जड़ की क्रिया तो इन दोनों से भिन्न स्वतन्त्र है, उससे न बन्धन है और न मुक्ति ही।

८—मोक्ष किसके आश्रय से होता है? अथवा तीन प्रकार की क्रिया में से किस क्रिया से मोक्ष होता है? क्या जड़ के मोक्ष होता है? या पुण्य-पाप का आश्रय करने से मोक्ष होता है? परद्रव्य का ग्रहण-त्याग तो आत्मा में है ही नहीं; इसलिए उसके आलम्बन से मोक्ष नहीं हो सकता। जो पुण्य-पाप होते हैं, वे भी परलक्ष्य से होने के कारण विकारी है, उसके लक्ष्य से भी मोक्ष नहीं होता। अर्थात् जड़ की क्रिया और विकारी क्रिया से मोक्ष नहीं होता। देहादिक जड़ की क्रिया का बाह्य संयोग होने पर भी, 'मैं इस जड़ से भिन्न हूँ'। न मैं उनका कर्ता हूँ—न करानेवाला-प्रेरक हूँ, और मेरे शुद्ध ज्ञानभाव में यह राग-द्वेष नहीं है कारण कि ये जीव के लक्षण नहीं हैं—ऐसा भेदज्ञान प्रवर्तमान हो, वह प्रारम्भिक धर्म की क्रिया है; और पश्चात् शुद्ध ज्ञाताभाव में स्थिरता करने से राग-द्वेष दूर होते जाते हैं। इस प्रकार धर्म की क्रिया के बल से विकार की क्रिया का नाश होता है।

९—(१) पेट में भोजन गया अथवा न गया, वह जड़ की क्रिया है; उसमें न पुण्य है न पाप है और न धर्म। (२) पेट में भोजन नहीं पहुँचा, उस समय जीव को जो अरुचिकर प्रतीत होता है कि—'उपवास तो किया, परन्तु आज तो कल जैसी प्रसन्नता नहीं है, कष्ट हो रहा'—तो उसे अशुभ परिणाम है और उस परिणाम से पापबन्ध होता है। (३) उस समय यदि मन्दकषाय रखे तो शुभ परिणाम है और उस शुभ परिणाम से पुण्यबन्ध है। (४) उस समय आहार का, शरीर का और पुण्य-पाप का लक्ष्य छोड़कर अपने त्रिकाली आत्म-स्वभाव की पहिचानपूर्वक उसमें जितना अंश में स्थिर हुआ—

अनुभव में एकाग्र हुआ, वह धर्म है। इन चार प्रकारों में नं० (१) जड़ की क्रिया है, नं० (२) तथा (३) वह विकारी क्रिया है, और नं० (४) धर्म की क्रिया अथवा अविकारी क्रिया है।

१०—शरीर स्थिर रहे, वह जड़ की क्रिया है, उस जड़ की क्रिया से आत्मा का माप निकाले, वह अज्ञानी है। जड़ शरीर की क्रिया स्थिर रहनेरूप हुई परन्तु उस समय आत्मा की क्रिया किस प्रकार की हो रही है—उसके भान बिना धर्म का माप (नाप) कहाँ से निकालेगा? धर्म की क्रिया शरीर में होती है या आत्मा में? जिसकी भूमिका में धर्म की क्रिया होती है—ऐसे आत्मस्वभाव का जिसे भान नहीं है, वह धर्म की क्रिया कहाँ से करेगा? इसलिए सर्व प्रथम भेदविज्ञान द्वारा आत्मस्वरूप की प्रतीति करना ही प्रारम्भिक धर्म की क्रिया है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई धर्म की क्रिया नहीं है।

क्रिया की स्थापना कौन करता है? ज्ञानी करता है।

११—शरीर की क्रिया, वह पुद्गल परमाणुओं की अवस्था है और परमाणु स्वतन्त्रतया परिणमित होते हैं अर्थात् शरीर की उस अवस्थारूप होते हैं। आत्मा उनका कर्ता वास्तव में नहीं है, इस प्रकार ज्ञानी ही शरीर की क्रिया की उसी रूप में यथावत् स्थापना करते हैं।

१२—पुण्य क्रिया है, वह जीव का विकार भाव है। उस क्रिया से आत्मा का अविकारी धर्म प्रगट नहीं होता और वह क्रिया धर्म में सहायक नहीं होती—इस प्रकार ज्ञानी ही पुण्य क्रिया की पुण्य क्रिया के रूप में स्थापना करते हैं।

१३—आत्मा की अविकारी क्रिया है, वह धर्म है, वह क्रिया आत्मा के ही अवलम्बन से प्रगट होती है, उसमें किसी अन्य जीव-आदि का अवलम्बन नहीं है और पुण्य क्रिया से वह अविकारी

क्रिया प्रगट नहीं होती—इस प्रकार ज्ञानी अविकारी क्रिया की स्थापना यथावत् धर्म की क्रिया के रूप में करते हैं।

क्रिया को कौन उखाड़ता है? अज्ञानी उखाड़ता है।

१४—शरीर की क्रिया आत्मा से होती है, परन्तु अपने आप स्वतन्त्र नहीं होती —ऐसा मानकर अज्ञानी ही शरीर की स्वतन्त्र क्रिया को उखाड़ते हैं, क्योंकि वे पुद्गल परमाणुओं की स्वतन्त्र क्रिया को स्थापित नहीं करते।

१५—पुण्यक्रिया अर्थात् शुभरागरूप विकारी क्रिया से धर्म होता है अथवा तो उसे करते-करते धर्म होता है—ऐसा मानकर अज्ञानी ही पुण्य की क्रिया को उखाड़ते हैं; क्योंकि पुण्य विकारी क्रिया है, तथापि वे विकारी क्रिया की विकारी क्रिया के रूप में स्थापना नहीं करते।

१६—आत्मा की अविकारी क्रिया पुण्य करते-करते होती है अथवा प्रारम्भ में कुछ परावलम्बन चाहिए, निमित्त चाहिए—ऐसा मानकर अज्ञानी ही अविकारी क्रिया को उखाड़ते हैं; क्योंकि पुण्य की अपेक्षा से रहित निरावलम्बी अविकारी क्रिया है, उसकी वे स्थापना नहीं करते। ●

प्रकरण : ३५
तत्त्व-चर्चा

१—**सुरेशचन्द्रः**—एक जीव धर्मी है, उसे कोई निर्माल्य कहे, तथापि उसे शंका नहीं होती, वह क्यों कर?

दिनेशचन्द्रः—क्योंकि उस धर्मात्मा जीव के ऐसा अन्तर भावभासनरूप भेदज्ञान प्रवर्तमान है कि मैं ज्ञानरूप आत्मा हूँ और सदैव ज्ञानादि अनन्त गुणों से परिपूर्ण हूँ। इस प्रकार अपने स्वभाव का मूल्य होने से उसे शंका नहीं होती।

सुरेशः—आपको शान्त बैठा देखकर कोई कहे कि तुम बेकार-आलसी हो तो आपको दुःख होगा या नहीं?—किसलिए?

दिनेशः—दुःख नहीं होगा। क्योंकि मुझमें वस्तुत्वगुण है, इससे मैं प्रति समय प्रयोजनभूत कार्य कर ही रहा हूँ। मेरे ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र, सुख, वीर्य, अस्तित्व, वस्तुत्व, अगुरुलघुत्व आदि अनन्त गुणों की दृढ़ता का कार्य मेरी द्रव्यत्वशक्ति से प्रति समय परिणमित हो रहा है, इसलिए मैं आलसी नहीं हूँ। लोग बाहर से माप करते हैं, वह ठीक नहीं है। स्वरूप में असावधान—अनुत्साह ही आलस्य है और स्वरूप में सावधानता—उत्साह ही सुखी होने का सच्चा उपाय है।

२—**सुरेशः**—कोई कहे कि—आत्मा में पैसादि कुछ नहीं है, इसलिए वह बिल्कुल निर्धन है, तो आप उसे मानेंगे या नहीं?

दिनेशः—आत्मा में पैसादि कुछ नहीं हैं, यह ठीक है परन्तु आत्मा निर्धन नहीं है, क्योंकि उसमें श्रद्धा, ज्ञान, सुख, आनन्द, वीर्यादि अनन्त गुण हैं; अनन्त गुणवाले आत्मा को निर्धन कैसे कहा जा सकता है?

३—**सुरेशः**—आत्मा के गुणों को बढ़ाना हो तो बढ़ा सकते हैं या नहीं?

दिनेशः—गुण नहीं बढ़ाये जा सकते, क्योंकि गुण तो त्रिकाल शक्तिरूप अवस्थित हैं, वे नये नहीं हो सकते। परन्तु गुणों की क्रियारूप पर्यायें नयी-नयी होती हैं, उसकी निर्मलता बढ़ाई जा सकती है। आत्मा अर्थात् जीव में भी अगुरुलघुत्वगुण होने से वस्तु में जितने गुण होते हैं, उतने ही त्रिकाल रहते हैं, उनमें न्यूनाधिकता नहीं होती।

सुरेशः—यदि गुण बढ़ न सकें तो फिर जिसमें कम गुण होंगे, उसके गुण पूरे किस प्रकार होंगे?

दिनेशः—किसी में कम गुण होते ही नहीं। सभी आत्माओं में गुण तो सदा पूरे के पूरे ही रहते हैं। गुण कम नहीं हो गये हैं परन्तु गुणों की पर्याय अपूर्ण होती है। 'इस जीव के कम गुण हैं'—ऐसा कहा जाता है परन्तु वास्तव में वहाँ गुण कम नहीं हैं किन्तु गुणों की पर्याय अपूर्ण हुई है—ऐसा समझना चाहिए। गुण तो पूरे ही हैं, उन्हें पर्याय में पूर्ण निर्मल होकर जीव नहीं देखता, इसलिए पर्याय अपूर्ण है। यदि अपने परिपूर्ण गुणों को पहिचानकर जीव उनमें स्थिर हो तो पर्याय भी पूर्णता प्रगट हो। इससे प्रथम आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप जानना चाहिए।

४—**सुरेशः**—आप आत्मा हैं; आप घर से यहाँ तक आये, तब शरीर को आपके साथ बलात् आना पड़ा या नहीं?

दिनेशः—नहीं, शरीर बलात् नहीं आया है। आत्मा और शरीर दोनों पृथक् पदार्थ हैं। इससे एक-दूसरे का कुछ नहीं कर सकते। आत्मा अपने कारण आया है और शरीर उसके अपने कारण से आया है। शरीर के जड़ परमाणुओं में द्रव्यत्व नाम की शक्ति है, इससे वे परिणमित होकर यहाँ आये हैं। परन्तु आत्मा के कारण शरीर नहीं

आया है और न शरीर के कारण आत्मा आया है। दोनों पदार्थ स्वतन्त्र हैं।

५—**सुरेशः**—जीव और पुद्गल में क्या अन्तर है?

दिनेशः—जीव में ज्ञान है, पुद्गल में ज्ञान नहीं है। पुद्गल रूपी है और जीव अरूपी है।

सुरेशः—पुद्गल में ज्ञानगुण क्यों नहीं हो सकता?

दिनेशः—पुद्गल जड़-रूपी है, इसलिए उसमें ज्ञान नहीं है। ज्ञान तो अरूपी है और पुद्गल रूपी है; रूपी वस्तु के समस्त गुण रूपी ही होते हैं परन्तु अरूपी नहीं होते।

सुरेशः—पुद्गल रूपी है और ज्ञान अरूपी है—यह कैसे जाना?

दिनेशः—जो रूपी वस्तु हो, वह इन्द्रियों द्वारा जानी जा सकती है; पुद्गल रूपी है; इसलिए वह इन्द्रियों द्वारा जाना जा सकता है। जो आँख से दिखायी दे, नाक से सूँघा जाए, कान से सुनायी दे, जीभ से चखा जाए और चमड़े से स्पर्शित हो, वह सब रूपी-पुद्गल है; और ज्ञान तो अरूपी होने के कारण वह आँख से दिखायी नहीं देता; कान से सुनायी नहीं देता, हाथ आदि स्पर्श में नहीं आता, जीभ से उसका स्वाद नहीं ले सकते और नाक से सूंघा नहीं जाता। किसी भी अचेतन पदार्थ में ज्ञान नहीं हो सकता।

६—**सुरेशः**—जो हम रेडियो में सुनते हैं, वे शब्द आकाश में से आते हैं या नहीं?

दिनेशः—नहीं; शब्द आकाश में नहीं आते। शब्द तो जड़ परमाणुओं की अवस्था है, वह आकाश का गुण नहीं है। बहुत से परमाणु एकत्रित होकर शब्दरूप परिणमित होते हैं, उन्हें हम सुनते हैं। परमाणुओं में ही शब्दरूप होने की शक्ति है। आकाशद्रव्य तो पृथक् है।

सुरेश:—परमाणु में स्पर्शगुण है-ऐसा कैसे कह सकते हैं?

दिनेश:—क्योंकि पानी आदि पदार्थ ठण्डे से गरम होते हैं; ठण्डा और गरम—दोनों स्पर्शगुण की ही पर्यायें हैं।

७—**सुरेश:**—पानी को ठण्डे से गरम तो अग्नि ने किया है न?

दिनेश:—नहीं; अग्नि और पानी दोनों पदार्थ पृथक् हैं, इससे अग्नि पानी को गरम नहीं करती। पानी में अनन्त परमाणु द्रव्य हैं और उस प्रत्येक परमाणु में स्पर्शगुण है, वह गुण पहले ठण्डी पर्यायरूप था और फिर वही गुण अपनी शक्ति से उष्ण पर्याय की उत्पत्ति द्वारा गरम दशारूप हुआ, उसमें अग्नि आदि किसी ने कुछ नहीं किया है। पानी के परमाणु अपनी योग्यता से अपने कारण से स्वत: गरम हुए हैं।

सुरेश:—यदि पानी अपनी योग्यता से ही गरम होता हो तो अग्नि के आने से पूर्व वह क्यों गरम नहीं होता?

दिनेश:—प्रत्येक द्रव्य में 'द्रव्यत्व' नाम की शक्ति है, उस शक्ति के कारण द्रव्य सदैव एक समान नहीं रहते, और उनकी अवस्था प्रति समय बदलती रहती है। परमाणुओं में भी द्रव्यत्वगुण होने के कारण उनकी दशा बदलती रहती है। इससे वे कभी ठण्डे और किसी समय गरम आदि होते हैं। जो परमाणु ठण्डे से गरम हुए हैं, उन्हें अग्नि ने गरम नहीं किया है; परन्तु अपनी द्रव्यत्वशक्ति के कारण ही हुए हैं।

८—**सुरेश:**—अग्नि ने पानी को गरम किया है—ऐसा माने तो क्या अड़चन आयेगी?

दिनेश:—यदि ऐसा मानें तो—अग्नि के परमाणुओं में से कुछ निकलकर पानी के परमाणुओं में प्रविष्ट हो जाता है—ऐसा होना चाहिए। अग्नि में से गरमी निकलकर पानी में प्रविष्ट हो गयी हो—

ऐसा नहीं होता; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य में 'अगुरुलघुत्व' नाम की शक्ति है, इससे एक द्रव्य के गुण या पर्याय दूसरे द्रव्य में प्रविष्ट नहीं हो सकते। प्रत्येक द्रव्य के गुण-पर्याय स्वतः अपने में ही रहते हैं। वस्तु की पर्याय बाहर से नहीं आती किन्तु अपने गुण में से ही आती है; इससे पानी की गरम दशा उसके स्पर्शगुण में से ही आयी है परन्तु अग्नि के परमाणुओं में से नहीं आयी है।

और प्रत्येक पदार्थ अनेकान्तस्वरूप है, अर्थात् स्वस्वरूप से है और परस्वरूप से नहीं है। पानी अग्नि के रूप से नहीं है। ऐसा होने से वे एक-दूसरे का कुछ नहीं कर सकते। यदि ऐसा मानें कि अग्नि ने पानी को गरम किया तो उपरोक्त सभी सिद्धान्त टूट जाएँ अर्थात् द्रव्य के अगुरुलघुत्वगुण का नाश हो जाए; सभी गुणों का नाश हो और द्रव्य एक-दूसरे में मिलकर द्रव्य का भी नाश हो। इसलिए कोई द्रव्य किसी द्रव्य का कुछ नहीं कर सकता।

९—**सुरेशः**—वस्तु में 'नास्तित्व' गुण है—ऐसा समझने से क्या लाभ है?

दिनेशः—वस्तु के स्वभाव में जो गुण हों, उन्हें जानने से वस्तु का स्वरूप समझ में आता है और उससे सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान होता है। नास्तित्व गुण अर्थात् आत्मा पररूप नहीं है और परद्रव्य आत्मारूप नहीं है। ऐसा समझ लेने से यदि शरीर में रोग आये तो जानता है कि उस रोग की मुझमें नास्ति है, मेरा ज्ञान रोग से पृथक् है। मेरा कोई गुण शरीररूप नहीं है। इसलिए शरीर में रोग आने से मुझे हानि नहीं होती और शरीर निरोग रहे तो उससे मुझे लाभ नहीं होता। शरीर की मुझमें नास्ति होने से मैं शरीर का कुछ भी नहीं कर सकता। इस प्रकार, नास्तित्वगुण की प्रतीति होने से निरन्तर स्व-पर के भिन्नत्व का ध्यान रहता है और इससे शान्ति रहती है। शरीर, पैसादि चले जाने

से आत्मा में से कुछ नहीं चला जाता; क्योंकि ज्ञानस्वरूप आत्मा में शरीर पैसादि की नास्ति है।

१०—**सुरेशः**—सच्चे देव-गुरु-शास्त्र, पुण्य के फल का संयोग आदि किसी भी पदार्थ से आपको लाभ होता है या नहीं?

दिनेशः—मुझे अपनी यथार्थ प्रतीति से लाभ होता है, परन्तु देव-गुरु-शास्त्र या पुण्य आदि किसी से मुझे लाभ नहीं होता क्योंकि उन समस्त पदार्थों का मेरे आत्मा में अभाव है, मुझमें वे कोई नहीं हैं। जो पदार्थ मुझमें नहीं हैं, वे मेरे आत्मा को कुछ भी लाभ या हानि नहीं पहुँचा सकते।

सुरेशः—पर से कुछ भी लाभ-हानि नहीं होते—ऐसा समझने से क्या लाभ है?

दिनेशः—वस्तुस्वरूप ही ऐसा है, इसलिए वैसा समझने से ही स्वसन्मुख हो सकते हैं, तब सम्यग्ज्ञान होता है। परद्रव्यों से मुझे कुछ भी लाभ-हानि नहीं होते—ऐसा समझे, तब परद्रव्यों के प्रति मोहबुद्धि या अहंकार नहीं होता, स्व में एकत्वरूप दृढ़ता द्वारा ही आत्मा बलवान होती है, तब राग-द्वेष भी कम होता है एवं शान्ति-सुख होता है। परद्रव्य के आश्रयरूप पराधीनता जीव मान बैठा है, वह मान्यता सच्चा समझने से दूर हो जाती है। अपने दोष से ही अपने को हानि होती है—ऐसा समझे तो अपना दोष दूर करके वह हानि दूर करे और प्रगट शुद्धिरूप गुण का लाभ हो।

११—**सुरेशः**—यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ न करता हो तो इस जड़ देह की व्यवस्था कौन करता है?

दिनेशः—जड़ देह में अनन्त रजकण-परमाणु हैं, वे प्रत्येक स्वतन्त्र द्रव्य हैं। उस प्रत्येक परमाणु द्रव्य में द्रव्यत्व, वस्तुत्व आदि गुण हैं और उनमें क्रियावतीशक्ति है, इससे वे चलते हैं, हिलते हैं,

शब्दरूप होते हैं, स्थिर होते हैं, गरम होते हैं, ठण्डे होते हैं—इत्यादि शरीर की समस्त अवस्थाओं की व्यवस्था उन परमाणुओं के द्रव्यत्व आदि गुण ही करते हैं, परन्तु जीव उनकी व्यवस्था नहीं करता। जीव तो उनका उपचरित सद्भूतव्यवहारनय से ज्ञाता है। अपने को जो ज्ञान और राग होता है, वह जीव स्वतः करता है, परन्तु जड़-शरीर ज्ञान या राग नहीं कराता, और जड़ शरीर के परमाणुओं में जो हलन-चलनादि होते हैं, वे परमाणुओं के गुण ही करते हैं, परन्तु जीव उन्हें नहीं करता। इस प्रकार स्वतन्त्र वस्तुस्वरूप है। भूमिका जितना रागी जीव को राग आता है किन्तु हेयबुद्धि होने से धर्मी जीव किसी भी प्रकार रागादि को करने योग्य नहीं मानता, जबकि अज्ञानी मिथ्या श्रद्धा करते हैं।

१२—**सुरेशः**—एक मनुष्य मर गया, और दूसरा मनुष्य उसे स्नेह से खिलाना-पिलाना तथा उसके साथ बातचीत करना चाहता है; परन्तु वह मरा हुआ मनुष्य खाता-पीता नहीं है और बोलता नहीं है; इससे वह दूसरा मनुष्य मन में दुःखी हो रहा है तो उसका दुःख दूर करने का क्या उपाय है?

दिनेशः—स्थूलरूप से देखें तो उस जीव का दुःख दूर करने के लिए दो उपाय ज्ञात होते हैं (१) या तो उस जीव की इच्छानुसार सामनेवाला मुर्दा खाये-पिये और बातचीत करे तो दुःख दूर हो, और (२) या फिर उसे खिलाने-पिलाने आदि सम्बन्धी इस जीव की इच्छा दूर हो जाए तो उसका दुःख दूर हो।

अब, विशेष विचार करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि—पहला उपाय तो बिल्कुल अशक्य है, अर्थात् वास्तव में वह उपाय ही नहीं है, क्योंकि मुर्दा कभी खाने-पीनेवाला नहीं है, इसलिए जब तक उस मुर्दे को मुर्देरूप से न जाना, जब तक उसका दुःख कभी भी मिटनेवाला नहीं है। दूसरा उपाय स्वाधीन होने से वह उपाय जीव

कर सकता है। परन्तु जब तक उस जीव को ऐसा विश्वास न आये कि—यह मुर्दा है और यह कदापि खायेगा-पियेगा नहीं, तब तक उसे खिलाने-पिलाने आदि की इस जीव की इच्छा दूर होगी ही नहीं; इसलिए मुर्दे का मुर्देरूप से सच्चा ज्ञान करना ही इच्छा दूर होकर शान्ति होने का एकमात्र उपाय है। मुर्दे को मुर्देरूप से जानने से उसे वस्तुस्थिति का सच्चा ज्ञान होता है और वैसा होने से मुर्दे को खिलाने आदि की उसकी इच्छा दूर हो जाती है और इससे उसे उतनी शान्ति होती है। इस प्रकार सच्चा ज्ञान ही सुख का कारण है और अज्ञान ही दुःख का कारण है। यहाँ मात्र मुर्दे सम्बन्धी बात है, इस कारण 'सच्चा ज्ञान' कहने से मात्र मुर्दे सम्बन्धी सच्चा ज्ञान समझना परन्तु 'सम्यग्ज्ञान' की बात नहीं समझना और 'सुख' कहने से मुर्दे सम्बन्धी इच्छा के अभाव से जो शान्ति हुई है, उस अपेक्षा से सुख समझना; किन्तु सर्वथा निराकुलताजन्य सुख यहाँ नहीं समझ लेना। अब, सम्यग्ज्ञान और निराकुल सुख सम्बन्धी स्पष्टीकरण किया जाता है।

१३—**सुरेशः**—मैंने जो उपरोक्त प्रश्न पूछा था, वह दृष्टान्त के रूप में पूछा था; अब सिद्धान्त समझने के लिए पूछता हूँ कि—यह जीव 'शरीरादि परद्रव्य अच्छे रहें तो मुझे सुख हो'—ऐसा मानने से शरीरादि परद्रव्यों को अपनी इच्छानुसार बदलने का भाव करता है; परन्तु परद्रव्य इस जीव की इच्छानुसार परिणमित नहीं होते, इससे यह जीव निरन्तर आकुलता का वेदन करके दुःखी ही हो रहा है, उस दुःख को मिटाने का क्या उपाय है?

दिनेशः—स्थूलरूप से देखें तो उस जीव को दुःख दूर करने के लिए दो उपाय ज्ञात होते हैं—(१) या तो उस जीव की इच्छानुसार ही शरीरादि सर्व परद्रव्य परिणमित हों तो उसका दुःख दूर हो; और (२) या फिर परद्रव्यों को बदलने सम्बन्धी भाव यह जीव स्वतः बदल डाले तो उसका दुःख दूर हो।

अब, विशेष विचार करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि—पहला उपाय तो बिल्कुल अशक्य है, अर्थात् वास्तव में वह उपाय ही नहीं है, क्योंकि परद्रव्य जीव से पृथक् हैं, इससे वे कभी भी जीव की इच्छानुसार परिवर्तित होनेवाले नहीं हैं। परद्रव्य इस जीव की अपेक्षा से मुर्दा है; जिस प्रकार मुर्दा खाता-पीता नहीं है, उसी प्रकार परद्रव्य भी इस जीव के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखते।

जब तक परद्रव्यों को अपने से भिन्नरूप नहीं जानेगा, तब तक उसका दु:ख कभी भी मिटनेवाला नहीं है। पहला उपाय यद्यपि अशक्य ही है, तथापि अज्ञानी जीव वह उपाय करके दु:ख को मिटाना चाहता है, परन्तु पर-पदार्थ उसकी इच्छानुसार परिणमित न होने से उसके विपरीत भावों का दु:ख उसे सदैव बना ही रहता है।

१४—दूसरा उपाय जो कि सत्य है, वह अज्ञानी की समझ में ही नहीं आता। वह उपाय तो ज्ञानी ही समझते हैं। यह उपाय स्वाधीन है और यही जीव से हो सकता है। समस्त परद्रव्य मुझसे सर्वथा भिन्न हैं, मुझमें उनका अभाव है—ऐसा विश्वास जब तक जीव को न आये, तब तक परद्रव्य को बदलने की उसकी इच्छा दूर होगी ही नहीं। परन्तु यदि परद्रव्यों को अपने से भिन्नरूप जाने और ऐसा विश्वास करे कि मैं उनका कुछ भी नहीं कर सकता, तो वह परद्रव्यों को बदलने की इच्छा न करे, तथा जिस प्रकार परद्रव्य स्वतन्त्ररूप से परिणमित हो, उसे उस प्रकार से जानता रहे और उसके चाहे जैसे परिणमन में भी अपने अन्तर से आकुलित न हो, क्योंकि उसे प्रतीति है कि उन द्रव्यों के परिणमन से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए स्व और पर का भिन्नरूप से सच्चा ज्ञान करना तथा वे एक-दूसरे का कुछ नहीं कर सकते—ऐसी प्रतीति करना, वही इच्छा को दूर करके शान्ति प्रगट करने का एकमात्र उपाय है। स्व-परद्रव्यों को भिन्न जानने से वस्तुस्थिति का सच्चा ज्ञान होता है; और वैसा होने से 'मैं

परद्रव्य की क्रिया कर सकता हूँ'—ऐसी विपरीत मान्यता दूर हो जाती है, इससे अनन्त परद्रव्यों का अहंकार और उनके कर्तृत्व की अनन्ती इच्छा दूर हो जाती है, तथा उतने ही अंश में स्वभाव की शान्ति और सुख प्रगट होता है; इस प्रकार सच्चा ज्ञान ही सुख का कारण है और अज्ञान ही दु:ख का कारण है। सर्वत्र सर्व प्रसंगों में सच्चा ज्ञान ही एकमात्र सुख का उपाय है; इसलिए सच्चा ज्ञान करो।

१५—जीव का स्वभाव ही ज्ञान करना है, परद्रव्यों को भी जाने अवश्य, परन्तु परद्रव्यों को जानने से ज्ञान के साथ पर के कर्तृत्व का अहंकार करता है, वह अहंकार ही दु:ख का कारण है। जब परद्रव्यों को भिन्नरूप समझे, तब ज्ञान के साथ परद्रव्यों का अहंकार नहीं करेगा; इससे अकेला ज्ञान ही रहा; वह ज्ञान ही सुख का कारण है।

स्वद्रव्य का सच्चा स्वरूप यथार्थतया जाने बिना परद्रव्यों का अहंकार दूर नहीं हो सकता; इसलिए ज्ञान के द्वारा अपने शुद्धात्मस्वरूप को पहिचानना चाहिए। ●